अस्तित्ववाद

अस्तित्ववाद

महावीर दाधीच

एम ए पी एच डी

शब्दलेखा प्रकाशन, बीकानेर

○ प्रकाशन
शब्दलेखा प्रकाशन
५ डागा बिल्डिंग
बीकानेर (राजस्थान)

○ मुद्रण
माहेश्वरी प्रिंटिंग प्रेस
जोशी बिल्डिंग
बीकानेर

○ मूल्य ग्यारह रुपये

ASTITVAVAD MAHAVEER DADHEECH R

श्री कांतिनाथ कुलकोटि उर्फ आचार्य जी
श्री सुरेन्द्रनाथ मिराजगी उर्फ प्रोफेसर
श्री हर्षद देसाई उर्फ देसाई
डा० ओमानन्द सारस्वत उर्फ चाचा
डा० पवनकुमार मिश्र उर्फ मोहब्बतसिंह
को

उन रातों की याद में
जो चाय सिगरेट और तर्काश्रित आविष्ट आवाजों के माहौल से परिवेश
की जड़ता को सुबह तक परेशान किये रहती थी
और इस उम्मीद में
कि ये लोग इस पुस्तक को खरीद कर पढ़ेंगे।

महावीर दाधीच

अनुक्रम

प्राक्कथन

अस्तित्ववाद का विवेचनात्मक परिचय देना इस पुस्तक का लक्ष्य है। अपनी सीमाओं के अन्तर्गत मैंने इस लक्ष्य को उपलब्ध करने का प्रयत्न किया है।

पहली सीमा यह रही है कि फ्रेंच, जर्मन, हिब्रू, डेनिश आदि भाषाओं के अज्ञान के कारण अंग्रेजी अनुवादों के आधार पर ही यह लिखी गई है। इसलिये सीमाजन्य त्रुटियों के लिये क्षमाप्रार्थी हूँ।

दूसरी सीमा विषय-सम्बद्ध हिन्दी पारिभाषिक शब्दों की रही है। अधिकांशतः मैंने विवेच्य लेखक के मूल शब्दों के अभिप्राय की व्यंजना करने वाले स्वनिर्मित हिन्दी शब्दों का प्रयोग किया है। इसलिये यास्पर्स, हेडेगर आदि के विवेचन में मूल एक ही शब्द के भिन्नार्थक अभिप्रायों को ध्यान में रखते हुए मैंने उस एक शब्द के लिए अलग अलग हिन्दी शब्दों का प्रयोग किया है। मेरा उद्देश्य विशिष्ट अभिप्राय को स्पष्ट करना रहा है, पारिभाषिक शब्दावली का निर्माण नहीं।

तीसरी सीमा भी अनतिक्रम्य है और वह है नाम नगर आदि के उच्चारण की। इस ग्रंथ में मुझे भारतीय नामों और नगरों के अपनी उच्चारणा से साहस मिला है। उटकमण्डलम उटकमण्ड और मुम्बई बोम्बे हो गया है। इस ग्रंथ यहाँ भी यदि उच्चारणगत नवीनता आ गई हो तो क्षम्य होनी चाहिए।

एकानेक स्व और पर की सीमाओं का उल्लेख मैं नहीं करूँगा।

एक स्पष्टीकरण भी। हेडेगर के प्रकरण में उसके ग्रन्थों को समग्रत लिया गया है। भू (Being) की धारणा उसके बाद के ग्रन्थ Introduction to Metaphysic के आधार पर विवेचित हुई है जब कि अन्य बातें प्रमुखत Being and Time के आधार पर। कुछ विचारक हेडेगर के पूर्व और पश्चात में विरोध देखते हैं। पर मुझे विरोध नहीं लगा है। वस्तुत भू की धारणा जो Being and Time में अस्पष्ट और केवल संकेतित है, इस दूसरे ग्रन्थ में अधिक स्पष्ट तथा मुखर हुई है। फलत यह ग्रन्थ विरोधी न होकर पूरक है।

श्रद्धेय डॉ० छगन मोहता का अत्यन्त आभारी हूँ। उनके स्नेह ज्ञान और विचार का मैंने खुलकर शोषण किया है। सुहृद डा० पूनम दईया की अनेकविध सहायता भी याद आ गई है।

बीकानेर
२५ ३ ६८

महावीर दाधीच

7

विपयसम्वद्ध ग्रथ-सूची (अग्रेजी मे अनूदित)

I Kierkegaard

1 The Concluding Unscientific Post Script —Kierkegaard
2 The Present Age
3 The Sickness Unto Death
4 Pepetition
5 The Concept of Dread
6 Either/Or
7 Fear and Trembling
8 Kierkegaard —W Lowrie

II Jaspers

1 Man In the Modern Age —Jaspers
2 The European Spirit
3 Perennial Scope of Philosophy
4 The Origin and Goal of History
5 Way to Wisdon
6 Reason and Existenz
7 Truth and Symbol
8 Tragedy is not Enough
9 The Philosophy of Karl Jaspers —P A Schilpp

III Heidegger

1 An Introduction to Metaphysics —Heidegger
2 Being and Time
3 What is Philosophy
4 The question of Being
5 The meaning of Heidegger a critical study of Existentialist Phenomenology —Thomas Langan
6 Kierkegaard and Heidegger The ontology of existence —Michael Wyschogrod
7 Heidegger —M Grene

IV Sartre

1 Being and Nothingness —Sartre
2 The Psychology of Imagination
3 Existentialism and Humanism
4 Literary and Philosophical essays
5 What is literature
6 The problem of Method
7 Baudelaire
8 Saint Genet
9 Portrait of the Anti Semite
10 Nausea (Novel)
11 The Age of Reason (Novel)
12 The Reprieve (Novel)
13 The Iron in the soul (Novel)
14 No exit The flies Nakrassov etc
(The plays and stories)
15 The Tragic Finale —Wilfred Desan
16 A Critique of J P Sartre s ontology —Maurice Natanson
17 Sartre —Iris Murdoch
18 The Literature of Possibility —H E Barnes
19 The Ethics of Ambiguity —Simone de Beauvoir
20 Memoirs of a dutiful daughter ,

V Buber

1 I and Thou —Buber
2 Eclipse of God
3 Between Man and Man
4 Martin Buber Jewish Existentialist—Malcolm Diamond

VI General

1 Existentialist Thought —Ronald Grimsley
2 Irrational Man —William Barrett
3 The Destiny of Man —N Berdyaev
4 Existentialism —Foulquie
5 Beyond Existentialism —J V Rintelen

6 Makers of Modern Thought —G O Griffith

7 The Philosophy of Existence —G Marcel

8 Existentialism and Modern Predicament —F H Heinemann

9 Existentialism from Within —E L Allen

10 Existentialism and Religious belief —D E Roberts

11 Six Existentialist Thinkers —Blackham

12 The Existentialists —James collins

13 The Philosophy of Decadentism A study in Existentialism —N Bobbio

14 Dreadful Freedom A critique of Existantialism —M Grene

15 Encounter with Nothingness —H Kuhn

16 Existentialist philosophies —B Mounier

17 Existentialism —G de Ruggiero

18 A short History of Existentialism —J Wahl

19 The chellenge of Existentialism —John Wild

20 Courage to Be —Paul Tillich

21 Portable Neitzsche —W Kaufman

22 Existentialism from Dostoevsky to Sartre—W Kaufman

23 Existertialism For and Against —P Roubiczek

24 Existentialism and Indian Philosophy —Gurudutta

25 Age of complexity —Herbert Kohl

इन्द्रिय-विषय-लेखन पद्धति

(Phenomenological Method)

किसी भी वस्तु या विषय के अध्ययन की प्रक्रिया रीति अथवा विधान पद्धति है। पद्धति अध्येता के लक्ष्य और अध्ययन-वस्तु के रूप स्वरूप से अनुशासित रहती है। यह लक्ष्य वस्तु-सापेक्ष अर्थात् लक्ष्य और वस्तु के अनुरूप होता है। यदि वस्तुपरक सत्य की प्राप्ति लक्ष्य है तो बौद्धिक पद्धति (rational method) का सहारा लेना अनिवार्य है। ऐसी परिस्थिति में मस्तिष्क (अध्येता) और वस्तु (अध्ययन) में द्वैत स्थापित होता है और वस्तु मस्तिष्क से बहिष्कृत हो जाती है। वस्तु से ऐन्द्रिय मानसिक और व्यक्तिगत सघनता और सापेक्षता के स्थान पर बौद्धिक निस्संगता और निरपेक्षता उभरती है। इस पद्धति का एक पूर्व धारणा (apriority or hypothesis) से प्रारम्भ होता है। फिर आगमन निगमन वर्णन प्रयोग [illegible] आदि एकान्त प्रक्रिया उपादेयता और साधना द्वारा वस्तु की एक परिभाषा प्राप्त की जाती है अथवा निष्कर्ष निकाला जाता है जो सामान्य सार्वभौम सार्वकालिक और सार्वदेशिक सार (essence) के रूप में होता है। विज्ञान और अधिकांश बुद्धि सापेक्ष प्रत्ययवादी (idealistic) दर्शनों में इसी पद्धति का प्रयोग किया जाता रहा है। आत्मपरक सत्य की प्राप्ति के लिए सहजानुभूतिनिष्ठ (intuitional) पद्धति काम में ली जाती रही है। इस पद्धति में किसी विशेष प्रक्रिया का अनुसरण नहीं किया जाता और यह पूर्ण तरह व्यक्ति सापेक्ष हो जाता है। इसमें कोई पूर्वधारणा नहीं होती। सहजानुभूति ही धारणा और निष्कर्ष का रूप धारण कर लेती है। ये निष्कर्ष सामान्य (general) और सार्वभौम (universal) होते हुए भी वैयक्तिक

6 Makers of Modern Thought —C O Griffith
7 The Philosophy of Existence —G Marcel
8 Existentialism and Modern Predicament
—F H Heinemann
9 Existentialism from Within —E I Allen
10 Existentialism and Religious belief —D E Roberts
11 Six Existentialist Thinkers —Blackham
12 The Existentialists —James collins
13 The Philosophy of Decadentism A study in Existentialism —N Bobbio
14 Dreadful Freedom A critique of Existantialism
—M Greno
15 Encounter with Nothingness —H Kuhn
16 Existentialist philosophies —B Mounier
17 Existentialism —G de Ruggiero
18 A short History of Existentialism —J Wahl
19 The chellenge of Existentialism —John Wild
20 Courage to Be —Paul Tillich
21 Portable Neitzsche —W Kaufman
22 Existentialism from Dostoevsky to Sartre—W Kaufman
23 Existertialism For and Against —P Roubiczek
24 Existentialism and Indian Philosophy —Gurudutta
25 Age of complexity —Herbert Kohl

१

इन्द्रिय-विषय-लेखन पद्धति

(Phenomenological Method)

किसी भी वस्तु या विषय के अध्ययन की प्रक्रिया रीति अथवा विधान पद्धति है। पद्धति अध्येता के लक्ष्य और अध्येय-वस्तु के रूप स्वरूप से अनुशासित रहती है। यह लक्ष्य-वस्तु-सापेक्ष अर्थात् लक्ष्य और वस्तु के अनुरूप होती है। यदि वस्तुपरक ज्ञान की प्राप्ति लक्ष्य है तो बौद्धिक पद्धति (rational method) का सहारा लेना अनिवार्य है। ऐसी परिस्थिति में मस्तिष्क (अध्येता) और वस्तु (अध्येय) में द्वैत स्थापित होता है और वस्तु मस्तिष्क से बहिर्गत हो जाता है। वस्तु से इन्द्रिय ज्ञान मिश्र और व्यक्तिगत सरसता और सापेक्षता के स्थान पर बौद्धिक निस्संगता और निरपेक्षता उपजती है। इस पद्धति का एक पूर्व धारणा (apriority or hypothesis) से आरम्भ होता है। फिर आगमन निगमन वर्णन अथवा द्वन्द्वात्मकता आदि एकांतर प्रक्रिया उपकल्पना और भावना द्वारा वस्तु की एक परिभाषा प्राप्त की जाती है अथवा निष्कर्ष निकाला जाता है जो सामान्य सार्वभौम सार्वकालिक और सार्वदेशिक सार (essence) के रूप में होता है। विज्ञान और अधिकांश बुद्धि मार्गी प्रत्ययवादी (idealistic) दर्शनों में इसी पद्धति का प्रयोग किया जाता रहा है। आध्यात्मिक सत्य की प्राप्ति के लिए सत्यानुभूतिविषयक (intuitional) पद्धति काम में भी लाया जाता रहा है। इस पद्धति में किसी विशेष प्रक्रिया का अनुसरण नहीं किया जाता और यह पूर्ण रूप व्यक्ति-सापेक्ष होता है। इसमें कोई पूर्वधारणा नहीं होता। सत्यानुभूति ही धारणा और निष्कर्ष का रूप धारण कर लेता है। ये निष्कर्ष सामान्य (general) और सार्वभौम (universal) होते हुए भी वैयक्तिक

ग्रंथ में सामान्य सार्वभौम और सार्वजनीन नहीं होते क्योंकि इनके मता-
सत्य का वस्तुपरक परीक्षण असंभव है। ये प्रवचन के लिए बुद्धि के स्थान पर
विश्वास और श्रद्धा पर आश्रित रहते हैं। रहस्यवादी धर्म आदि की बातों का
निरूपण इस पद्धति में होता रहा है।

चूंकि अस्तित्ववादी सामान्य सार्वभौम सार्वकालिक और सार्वदेशिक
सार अथवा सत्य में विश्वास नहीं करते और न वे पूर्णतः सहजानुभूति के
विवेकातीत निष्कर्षों में ही आस्था रखते हैं। फलतः दोनों ही पद्धतियां उन्हें
अपूर्ण और अनुपयोगी लगती हैं। उनका लक्ष्य निर्जीव निर्लिप्त और अमूर्त
सार को प्राप्त करना नहीं है तथा उनका विषय-अस्तित्व-भी स्थिर निश्चित
और सीमित नहीं है। वे निरन्तर प्रवहमान अस्तित्व की सम्यक् पहचान करना
चाहते हैं। परिणामस्वरूप वे इन्द्रिय विषय लेखन पद्धति का आश्रय लेते हैं।

इन्द्रिय-विषय (Phenomenon)

Phenomenon शब्द ग्रीक धातु Phainesthai से बना है जिसका
मूल अर्थ है प्रकट होना। अर्थात् वे विषय जो चेतना में प्रकट होते हैं। दूसरे
शब्दों में वे विषय जिनका साक्षात् बोध मन इन्द्रियों द्वारा प्राप्त करता है। इस
तरह विषय या वस्तु के दो रूप हैं। एक-इन्द्रिय वाह्यमय रूप अर्थात् जिस रूप
में वे प्रकट होते हैं बाधित ज्ञात है या प्रतीत होते हैं तथा दूसरा-विषयों का
प्रकृत रूप जो इन्द्रिय निरपेक्ष फलतः चेतना में असम्पृक्त और शुद्ध होता है
और जो कान्ट के अनुसार बौद्धिक सहजानुभूति का ही विषय है। हेडेगर
(Heidegger) इन्द्रिय विषय को केवल विषयों तक ही सीमित नहीं
रखता बल्कि इच्छाओं भावनाओं सिद्धान्तों आदि को भी वह इसके अन्तर्गत
मानता है।

संक्षेप में चेतना-सापेक्ष अनुभूति रूप विषय ही इन्द्रिय विषय है।

इन्द्रिय-विषय लेखन पद्धति

इन्द्रिय विषय अथवा इन्द्रिय विषयवाद की धारणा का उद्गम कान्ट
हेगल आदि पूर्ववर्ती दार्शनिकों में प्राप्त होता है। किन्तु जिस रूप में यह
धारणा अस्तित्ववादियों में दिखाई देती है उस इन्द्रियविषयवाद का पुरस्कर्ता
हुसर्ल (Husserl) था। हुसर्ल अस्तित्ववादी नहीं था। उसका ...

अपने अंतिम रूप में इन्द्रियातीत प्रत्ययवाद है तो भी इस दर्शन की प्रारम्भिक धारणाओं ने जर्मन और फ्रांसीसी अस्तित्ववादियों को अत्यधिक प्रभावित किया है। हुस्सर्ल की मान्यता थी कि पूर्ण वस्तुपरकता (objec tivity) प्राप्त करने के लिए दार्शनिक के लिए यह अनिवार्य है कि वह अपना पूरा ध्यान उस विषय के उद्गम या उत्पत्ति पर केन्द्रित करे जो चेतना के प्रति प्रकट होता है। दूसरे शब्दों में वह इन्द्रिय विषय का वर्णन करे। क्योंकि ज्ञान प्राप्त करना और ज्ञात करना अथवा उत्पन्न करना एक नहीं है। ज्ञापित होना केवल देखना है। इन्द्रिय विषय स्वयमेव अपने आपको चेतना के परिवृत्त में अभिव्यक्त (manifest) करता है। यही उसका सच्चा और वस्तुपरक रूप है। इसलिए विषयों के प्रति पुनर्गमन की बात हुस्सर्ल करता है। लेकिन इस बात पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए कि ये 'विषय' इन्द्रिय विषय हैं। साधारण विषय नहीं हैं जो वस्तुनिष्ठ अथवा प्रत्ययवादी दर्शनों के प्रत्यय हैं। निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि इन्द्रिय विषय चेतनागत विषय हैं।

इन्द्रिय विषयवाद को पूरी तरह समझने के लिए हुस्सर्ल की चेतना की धारणा का विवेचन आवश्यक है। ब्रेन्टानो के प्रभाव में हुस्सर्ल चेतना को निर्दिष्ट (intentional) मानता है। चेतना सदैव स्वबाह्य विषय (object) की ओर निर्दिष्ट अथवा उन्मुख (pointing to) रहता है। अर्थात् यह ... की चेतना है। दूसरे शब्दों में चेतना सदैव किसी विषय की चेतना है। चेतना इस रूप में शुद्ध है अर्थात् शून्य है। पूर्वाग्रह, धारणा या प्रत्यय आदि से यह पूर्णतः मुक्त है। केवल प्रत्यय आदि विवेकी चेतना (reflective consciousness) की सृष्टि हैं अर्थात् ये चेतना में पूर्ववर्ती नहीं अनुवर्ती हैं। फलतः शुद्ध चेतना में इनकी स्थिति नहीं है। चेतना का यह दूसरा विवेकी रूप प्रत्ययवादी दर्शन, विज्ञान, गणित, तर्कशास्त्र आदि इन अध्ययन शाखाओं का आधार है। फलतः हुस्सर्ल के अनुसार इन शाखाओं के परिणाम भी अपूर्ण या गलत हैं क्योंकि इनमें विषय का विकृत (distor ted) और अपूर्ण रूप प्रस्तुत किया जाता है। इसलिए दार्शनिक के लिए यह आवश्यक है कि वह इन्द्रिय विषय का वर्णन विश्लेषण करे अर्थात् विषय के चेतनागत सद्यानुभव (immediate experience) का वर्णन विश्लेषण हो जिससे विषय का सच्चा शुद्ध रूप प्रकट हो सकता है

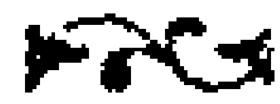
इससे यह स्पष्ट होता है कि जो प्रकट होता है अथवा चेतना के क्षेत्र में जो विषय आता है उसका ठीक वर्णन कर देना ही इसकी विषय-वर्णन पद्धति है। इसमें किसी प्रकार की पूर्वता (apriority) और पूर्वाग्रह (prejudices) नहीं होते। फलतः इसमें सैद्धान्तिक अथवा व्यावहारिक पूर्व योजना (postulates) या मान्यता के लिए कोई अवकाश नहीं है। ऋषि दृष्टि (revelation) और परम्परा का मत भी अस्वीकार्य है। इस रूप में यह पद्धति आगमन और निगमन दोनों बौद्धिक पद्धतियों की अवहेलना करती है यद्यपि अंशतः बौद्धिक पद्धति के एक माध्यम वर्णन का यह सहारा लेती है तथापि यह वर्णन के द्वारा कुछ सिद्ध नहीं करती अथवा कोई निश्चित सारभूत निष्कर्ष नहीं निकालती।

हुस्सेर्ल सार्त्र याम्पस मर्लोपान्टि आदि अस्तित्ववादी विचारक पद्धति के उपर्युक्त स्वरूप से शायद सहमत होंगे।

हुस्सेर्ल का दर्शन प्रत्ययवादी और अर्थपरक (of meanings) है अस्तित्व परक नहीं। दूसरा यह कि हुसर्ल ने इस पद्धति को ही पूरे दर्शन या वाद का रूप दे दिया है। वह अपने बहु प्रचलित अपचयीकरणों (reductions) के द्वारा इन्द्रिय विषय को बौद्धिक धारणाओं में ही मुक्त नहीं कराता बल्कि मानसिक प्रतिक्रियाओं (psychic responses) से भी स्वतन्त्र कर अतिक्रमणशील चेतना (transcendental consciousness) तक पहुँचता है। यही अतिक्रमी चेतना उसके अनुसार सच्चे ज्ञान या सत्य का आधार है। सार्त्र हैडेगर आदि अस्तित्ववादी चिन्तक इन मुद्दों को अस्वीकार करते हैं क्योंकि इन्द्रिय विषय में ज्ञान की आवश्यकता हो वे महसूस नहीं करते। वे हुसर्ल की निरपेक्ष चेतना का खण्डन करते हैं। चेतना हमेशा की चेतना होती है। अतः कथित अस्तित्ववादी इसे केवल साधन या पद्धति के रूप में लेते हैं जो मानव अस्तित्व के सहज रूप स्वरूप के उद्घाटन में सहायक है। उनका उद्देश्य अस्तित्व की धारणा बनाना नहीं। अस्तित्व के सहज अनुभव को प्रमाणपूर्ण ढंग से पकड़ना है। वे किसी अमूर्त सत्य का प्रतिपादन नहीं करते बल्कि अनुभव के मूल और तात्त्विक पक्ष का वर्णन करना चाहते हैं जो उनकी दृष्टि में सम्पन्न होता। यह सत्य मेरा सत्य है जिसे मैं अपने जीवन में ही साक्षात्कार करता हूँ। इसलिए कुछ अस्तित्ववादी (सार्त्र, कामू आदि) उपन्यास, नाटक, कहानी आदि साहित्य

माध्यमों से अपनी बात प्रकट करते हैं। उनका उद्देश्य–मानव के व्यवहार के शब्दों में–अस्तित्व की नियमाण अवस्था को चित्रित करना है।

इस पद्धति का प्रचलन यद्यपि कीर्केगार्ड के पश्चात् हुआ है तो भी कीर्केगार्द का लेखन भी इसी पद्धति से मिलता जुलता है। यास्पर्स और मार्सल इस पद्धति का उपयोग करते हैं। बहुतांश में हेडगर और सार्त्र का विवेचन भी इस पद्धति के माध्यम से हुआ है।



२

अस्तित्व-वाद : कुछ स्थूल रेखायें

अस्तित्व वाद की परिभाषा देना बहुत मुश्किल काम है क्योंकि अस्तित्व वाद स्वयं किसी परिभाषा में विश्वास नहीं करता। परिभाषा देने का अर्थ यह है कि अस्तित्व का ऐसा रूप स्थिर कर लेना जो परिभाषा से सबंधित नियमों द्वारा पूरी तरह से अनुशासित रहे जिससे भूत वर्तमान और भविष्य उस परिभाषा में सीमित हो जाय। अस्तित्व वाद के अनुसार मनुष्य के अस्तित्व की परिभाषा इस रूप में दी नहीं जा सकती क्योंकि मनुष्य के भविष्य के बारे में किन्हीं निश्चित नियमों का निर्माण नहीं किया जा सकता। वह मूल रूप में स्वतंत्र है इसलिए सभी परिभाषाओं का अतिक्रमण करता है। उनके अनुसार अस्तित्व या (to exist) का मतलब है एक ऐसा जीवन एक ऐसी गति जो सब प्रकार के नियमों को तोड़ कर अग्रसर रहता है। इसका मतलब हुआ कि अस्तित्व वाद किसी भी प्रकार के एसेन्स या सार में विश्वास नहीं रखता। वस्तु का सार अमूर्त होता है। वस्तु जब गुणों और प्रवृत्तियों से हीन होकर जब एक विचार का रूप धारण कर लेता है तो उसे हम सार की संज्ञा देते हैं। सार्त्र ने मेज का एक उदाहरण दिया है। मेज को उत्पन्न करने वाले के मस्तिष्क में मेज का एक रूप रहा होगा अर्थात एक विचार। मेज बाद में बनती है अर्थात् उसकी निर्मिति का एक आधार है। इस मेज का सार निकाला जा सकता है और वह सार है मेज सम्बन्धी विचार। इस मेज के भूत वर्तमान और भविष्य को पूरी तरह से जान सकते हैं। इसके बारे में भविष्यवाणी की जा सकती है कि यह कितने दिनों तक टिकेगी यह कितना पुराना हुआ है और कितना पुराना होने पर बेकार होगी आदि। इस सार से मेज का जो रूप दृष्टिगत होता है वह किसी रूप में सार

इस काम में लेते हैं वह रूप नहीं होता। वह रूप नष्ट हो जाता है और एक ऐसा विचार उत्पन्न होता है जो पूरी तरह से अमूर्त और निष्प्रयोजन है जिसमें किसी भी प्रकार की आत्मपरकता नहीं होती। सार्त्र के अनुसार मनुष्य मेज नहीं है क्योंकि उसकी इस रूप में परिभाषा नहीं दी जा सकती। इसका अर्थ यह है कि अस्तित्ववाद में वस्तु की क्रिया और विचार होना एक दूसरे के पूरक तो अवश्य हैं। पर विचार के पूर्व क्रिया की स्थिति है जिसको हम इस तरह कह सकते हैं कि सार से पहले अस्तित्व आता है। (existence precedes essence—Sartre in existentialism and humanism) इसका अर्थ यह है कि मनुष्य सार नहीं है इसलिए उसकी परिभाषा बनाना गलत है।

मनुष्य मानवतनिक ज्ञान में पड़ता है या सत्ता प्राप्त करता है। ज्ञान का अर्थ है जो मनुष्य है और यह है किसी निश्चित स्वरूप में नहीं आता। मनुष्य इस ज्ञान की प्रक्रिया में यह बात पूरी तरह से अनुभव करता है कि चेतना के रूप में वह कुछ नहीं है अर्थात् चेतना में किसी भी प्रकार के पूर्वाग्रह विचार या पूर्वधारणाएँ नहीं होतीं। वह किसी भी प्रकार के बंधन से बद्ध नहीं है। दूसरी तरफ वह यह भी महसूस करता है कि वह वस्तु (आकारवान) नहीं है। इसलिए वस्तु में और मनुष्य की चेतना में एक प्रकार का तनाव सदैव रहता है। चेतना वस्तु रूप होना चाहती है अर्थात् वह ऐसा रूप धारण करना चाहती है जिसकी निश्चित परिभाषा दी जा सकती है सार बनाया जा सकता है। दूसरे शब्दों में मनुष्य चेतन होते हुए वस्तु की स्थिरता प्राप्त करना चाहता है। प्राचीन काल के प्रत्ययवादी दार्शनिक धार्मिक विचारक और अन्य तर्क वैज्ञानिक निष्कर्ष भी मनुष्य को सार के रूप में परिभाषित करते हैं। मनुष्य की एक निश्चित धारणा बनाते हैं और इस प्रकार से वह मनुष्य की स्वतंत्रता उसकी संभावना और उसकी क्रिया या चयन को नष्ट करते हैं। अस्तित्ववादी इसलिए इन सब में विश्वास नहीं करता क्योंकि उसका विश्वास है कि ज्ञान का मतलब है अपूर्व और अद्वितीय (unique) होना। किर्केगार्द ने स्पष्ट कहा है कि मेरा सारतत्त्व व्यक्ति है (my category is the individual)। अन्य अस्तित्ववादी भी अपने-अपने विशिष्ट रूप में इस बात को मानते हैं। अतः हम यह निष्कर्ष प्राप्त कर सकते हैं कि सभी अस्तित्ववादी मनुष्य को व्यक्ति के रूप में प्रधानता देते हैं। इसका मतलब है कि वह समाज की अपेक्षा व्यक्ति परक अधिक है।

यह व्यक्ति भी अकेला व्यक्ति है जिसके पास किसी परम्परागत मूल्यों का आधार नहीं है अतः जो भी करता है उसके लिये वह स्वयं जिम्मेदार है। यहाँ उसको उपदेश देने वाला या मार्गदर्शन कराने वाला प्राप्त नहीं है। उसे स्वयं का चुनाव करना पड़ता है और यह चुनाव उसके स्वयं के जीवन अथवा अन्य व्यक्तियों के जीवन जिनमें उसका संबंध है सब का निर्माण करता है। इसलिए यह बहुत बड़ा उत्तरदायित्व का कार्य है। उसके इस चुनाव पर इस तरह से पूरे समाज की व्यवस्था पूरे समाज का रूप निर्माण निर्भर करता है और वह यह चुनाव किसी की सहायता से नहीं करता। अपनी चेतना के द्वारा ही उसे यह चुनाव करना पड़ता है इसलिये इस चुनाव के जो भी प्रतिफल होते हैं उनके लिए वह अपने आपको एक भागीदार समझता है। इससे यह बात भी स्पष्ट हो गई कि अस्तित्ववादी केवल एक व्यक्ति की बात नहीं करता जो समाज निरपेक्ष होकर एकांत में किसी जंगल में जाकर साधना करता है बल्कि उस व्यक्ति की बात करता है जो दूसरे व्यक्तियों के साथ रहता है। दूसरे व्यक्तियों के संपर्क में आता है। दूसरे व्यक्तियों से भावात्मक और विचारात्मक रूप से संबद्ध होता है इस तरह व्यक्ति अपने संसार का निर्माण करता है। यह अपना संसार वास्तव में उसकी आत्मा का या चेतना का संसार है। जो वस्तु वह देखता है जिन व्यक्तियों के वह संपर्क में आता है जिन परिस्थितियों को वह भावात्मक या अन्य स्तरों पर जीता है जो विचार वह पढ़ता है अथवा सुनता है उन सबको वह एक आंतरिक रूप देता है। और फिर उन सब का अपने अन्तर के अनुसार पुनर्निर्माण करता है। इस तरह से वैज्ञानिक का या दार्शनिक का वस्तुपरक संसार उसका कार्यक्षेत्र नहीं है जिसमें किसी तरह की भावना नहीं होती जिसमें किसी प्रकार का सहभाव या (participation) नहीं होता। उस संसार के लिये वह स्वयं जिम्मेदार भी है क्योंकि जब वह चुनाव करता है तो वह अपने लिये ही चुनाव नहीं करता बल्कि इस पूरे संसार के लिये चुनाव करता है और चुनाव करते समय मनुष्य की और संसार की एक धारणा वह स्वयं निर्मित करता है। इसलिये उस चुनाव के द्वारा वह इस पूरे मानव समुदाय और संसार के लिए उत्तरदायी सिद्ध होता है और चूंकि इस चुनाव में वह किसी भी बाहरी शक्ति का सहारा नहीं लेता। वह अपनी चेतना के द्वारा ही अपना यह चुनाव करता है इसलिये उसके मन में एक प्रकार की चिंता हमेशा रहती है। क्योंकि वह अपने निर्णय की अनुकूलता या प्रतिकूलता के बारे में निश्चित नहीं रहता। यह

न्भिव्यन्ता उसके मानसिक जगत की तुच्छिता न । यन् माप का न्मवन्न न्न ज्ञान का स्थिति नन्ग है नन्ति जो चुनाव किया न उसकी समावना उसके द्वारा पन् न्न प्रभाव म वन् पीडित न्नाता है और यह न्भिव्यन्ता आर्थिक परिस्थितियों म सबग पन्न्ले घनीभूत न्नाता न । न्मलिय ऐसी परिस्थितियों म मनुष्य मन्च न्प म जाता न । जम मन्य क समय किसा न्यक्ति क गोता माग जाता न उस समय न्म न्यक्ति क सामन किसा तन्न्न की चायन का न्नाधा नन्ना है । वह स्वय उस गोली क लिय या मृत्यु क लिय जिम्मेदार न्न्नता न और उसकी चेतना पूरा तन्न्न म शून्य न्न्नता है ।

अभिव्यन्ति का अर्थ न मानवीय न्नाता । यन् मनु यता क न न ग अलग न्ना न्नाता । वह किसी प्रकार का भा न्वा नन्नित पर विश्वास नन्ग करता । वन् किसी आध्यात्मिक फल की प्राप्ति की चेष्टा नन्ना करता और न किसी निन्नाग न्मक स्तर पर नातन-यापन करन का चेष्टा करता न । वन् ना जमा मनुष्य है जिस न्प म मनुष्य अपन आपका बनाना चान्ता है न्ना न्प का वणन करन प्रयास करता है । वणन न्मलिय कि उसके अनुसार अभिव्यन्ति का वणन ना किया जा सकता है । वणन न्न का ग्मी पद्धति है जिसम परिभाषा का निमाण नन्ग न्नाता जो सारा मुश्किल नन्ग न ।

मनुष्य समावना है सक्रिय तन्व है । मनुष्य का भूत न मा न्मलिय अभिव्यक्ति न्यवहारिता क लिय मन्नत्वपूर्ण नन्ग है । वनमान क अन्तराल न्नान न्ना न्न वस्तु न्न न्प म परिवर्तित न्ना जाता है । और मन म और भूत म कान् फन नन्ग न्न्नता । भूत मनुष्य का वास्तविक मनुष्य का समावना तथा मनुष्य का चातना (प्राजक्ट) का किसा ना प्रकार म अनुशासित नन्ग करता है । न्न न्न स्मृति न्प म न्पयोगी अथवा अनुपयोगी न्न सकता न । यदि वन् अनुपयोगी न्नाता है ता मनुष्य उन्न न्न मा क समान उतार न्ना न । ना मनुष्य ऐसा नन्ग कर पाता वन् आत्म प्रवचक श्रद्धा (बन् फेथ) क अनुसार न्यवहार करता है । वह गामन्निक न्नाता है और न्म नन्न्न म वन् सच्चा जावन न्यतान नन्ग करता । क्योकि मनुष्य न्मेशा अतिक्रमणशाल प्राणी । न्न न्न न्नापार क न्न भा का अतिक्रमण करता न । वन् न्म तन्न्न स स्व निविश्चत न्न न है । अपन भविष्य का निर्माण वन् स्वय करता न अथात् वन् अपन निमाण प्रन्न्न भाग न्न्नता न । और उस भविष्य क निमाण म भूत किसा भा प्रकार म बाधक नन्ग न्नाता न्मलिए अस्तित्ववादा प्रामाणिक जावन (आथ न्न टिक लाइफ) पर अधिक बल

ता है। सामाजिक व्यवस्था के अनुसार निर्णय करता और कार्य करता। अपने न्याय का अपना पूर्वाग्रह लेकर चलना व पदार्थों का क्रिया के रूप में प्रयोग कर देना ही सच्चा अस्तित्ववाद। इसमें यह निर्णय निकालना कि ज्ञान का अर्थ है, ज्ञान का अर्थ है जिम्मेदारी। अस्तित्ववादी मानववाद का नैतिक मूल्यों की मान्यता। अस्तित्व मस्तक देता है। इस रूप में वह मूल्यों का निर्माता स्वयं है। वह किसी भी प्रकार के सामान्य सार्वभौम या दैवी मूल्यों में विश्वास नहीं करता। वह निज मूल्यों का स्वयं निर्माण करता है और मूल्यों की भी उसी समय तक उपयोगिता है जब तक वह किसी न किसी तरह क्रिया में जुड़ी है। अस्तित्ववादी मूल्यों की अन्तिम निर्णय में भी विश्वास नहीं करता। मूल्यों का सर्वकालिक निश्चित ... स्वीकार नहीं करता। ... मूल्यों का कार्य अथवा मूल्यों की क्रिया का ... अस्तित्ववाद ... है। ... मूल्य कार्य की निष्पत्ति मात्र है ... के प्रतिफल रूप हैं।

अस्तित्ववाद में ... मनुष्य के ... जीवन का वर्णन ... मनुष्य का समग्र रूप में लिया जाता है उसका ... रूप में विवेचन करना ... दोनों का कार्य ... है। अस्तित्ववादी मनुष्य ... है वह ... में ... है ... प्रत्येक क्षण अपने ... पुनर्सर्जित करता है। ... प्रत्येक क्षण मूल्य बनाता है और ... किसी ... आधार के ... है। अस्तित्ववाद ... विशेष प्रकार के मानववाद ... चलता है। प्राचीन युग में ... मनुष्य को सर्वप्रमुख ... है मनुष्य स्वतंत्र है और मनुष्य इस संसार में पूर्णता ... सकता है। इस प्रकार युग का मान्यता का विकास अस्तित्ववाद ... है। ... अस्तित्ववादियों ने प्रत्येक युगों में ... अमूर्त परिभाषा की ... उसका ... किया है। ... मूढ़ ... उन्नति ... इन सब परिस्थितियों ने इस बात में विश्वास ... कि मनुष्य पूर्ण है पूर्णता प्राप्त कर सकता है ... उन्नति कर सकता है। अस्तित्ववादी यह मान कर चलते हैं कि मनुष्य ... और ... है। फिर भी वह अपना निज

और समाज [illegible] सम्बन्ध हैं। यहाँ [illegible] में [illegible] की निराशावादिता की प्रतिक्रिया थी। अंततः [illegible] [illegible] मिलता [illegible] क्योंकि वह जानता है कि निराशा या असफलता मनुष्य के जीवन का प्रमुख अंग है। विचार के द्वारा उसका निराकरण हो [illegible] किया जा सकता। [illegible] के द्वारा भी उस निराशा का समाधान प्राप्त [illegible] सकता। क्योंकि पहला मनुष्य का विषय (object) था, [illegible] और [illegible] [illegible] का प्राधान्य [illegible]। अब वह कहता है कि [illegible] और [illegible] अवस्था [illegible] मनुष्य को जीना चाहिए। इस प्रकार का सामंजस्य उसे अपने जीवन में स्थापित करना चाहिए। निराशा [illegible] [illegible] में भागना [illegible] उसे यह मान लेना चाहिए इस [illegible] संघर्ष [illegible] जीवन के प्रमुख अंग हैं इसलिए दूसरा मानव [illegible] के साथ उत्तरदायित्व पूर्ण [illegible] जीवन व्यतीत करना चाहिए। उपन्यास में [illegible] मानवतावाद के विरुद्ध [illegible] [illegible] व्यक्तिगत स्वतंत्रता [illegible] [illegible] [illegible] की स्वतंत्रता [illegible] के निर्माण में [illegible] करना यह सब बातें [illegible] में मानवतावादी हैं। [illegible] मानवतावादी हैं क्योंकि [illegible] प्रकार [illegible] मानवतावाद के [illegible] गुण [illegible] [illegible] बातें हैं। मनुष्य [illegible] सिद्ध [illegible] कि [illegible] पुराने मानवतावादी [illegible] पर आधारित था [illegible] पूर्ण था जिसका कोई सम्बन्ध आधार नहीं था।

३

कीर्केगार्द

(Kierkegaard)

कीर्केगार्द उन्नीसवीं शताब्दी का एक ऐसा विचित्र व्यक्ति था जिसका प्रभाव अपने युग पर कोई खास नहीं रहा लेकिन बीसवीं शताब्दी में बहुत सी दार्शनिक धाराओं की प्रेरणा का स्रोत बन रहा है। अस्तित्ववाद नास्तिक वस्तुवाद आदि सब उससे किसी न किसी रूप में प्रभावित हुए हैं। उसने बहुत सी पुस्तकें बड़े ही साहित्यिक ढंग में लिखी हैं। उन पुस्तकों में हमें पूरी तरह से तार्किक पद्धति का अनुसरण नहीं मिलता। कीर्केगार्द सीधी रीति से अपने विचारों को प्रकट नहीं करता। वह प्लेटो के समान अथवा रोमाण्टिक लोगों के समान छद्मनामी पात्रों के द्वारा अपनी पुस्तकों में सिद्धान्त कथन करता रहा है। उसका एक आग्रह यह भी था कि वह जनता में यह कहा करता था कि छद्मनामों द्वारा लिखी गई पुस्तकों में उसके मत भी शामिल नहीं हैं जबकि वास्तव में प्रत्येक शब्द उसके द्वारा लिखा गया है। ये पुस्तकें कभी कभी बहुत आनन्ददायी हैं कभी कभी बहुत ही उबानेवाली भी हैं। कभी धार्मिक व्यक्ति जैसा व्यवहार उनमें दिखाई देता है तो कभी मानसिक रोगी जैसी बकवास भी की गई है। लेकिन ये सब रूप कीर्केगार्द के ही रूप थे।

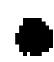
कीर्केगार्द का दर्शन उस समय तक नहीं समझा जा सकता जब तक कि उसके जीवन के विषय में न जाना जाए क्योंकि वही एक दार्शनिक है जिसने अपने विचार और कार्य में अथवा दर्शन और जीवन में बिलकुल भी अन्तर नहीं किया। लगता है कि उसने जीवन को भी दर्शन का रूप दे दिया था और दर्शन को जीवन में परिवर्तित कर लिया था। इस रूप में कीर्केगार्द एक प्रामाणिक दार्शनिक है। कोपनहेगन में सन् १८१३ में

उसका जन्म हुआ। वह सात बच्चों में अन्तिम था। उसके मातापिता कृषक परिवार के थे। उसका पिता बड़ा स्वभाव का था। उसका पिता जब बच्चा था तो एक दिन धूप में जब वह भेड़ें चरा रहा था अपनी दुख पूर्ण जिन्दगी के लिए उसने ईश्वर को बुरा भला कह दिया। बुढ़ापे में अपनी मृत्यु के समय उसने अपने इस पाप को कीर्कगार्ड के सामने स्वीकार किया। कीर्कगार्ड प्रारम्भ से ही इतनी अधिक धार्मिक वृत्ति का था कि वह इस स्वीकार से बहुत अधिक विचलित हो गया और उसने इस से यह अर्थ निकाला कि आज से ईश्वर का कोप या अभिशाप पूरे परिवार पर रहेगा। इसी कारण वह अपने बचपन को अच्छी प्रकार से सुख पूर्वक नहीं बिता सका। वह अपनी पुस्तकों में स्वीकार करता है कि वह कभी बच्चा था ही नहीं। कभी जवान न हुआ। कभी मनुष्य नहीं बना। कभी जिन्दा नहीं रहा। उसे कभी भी दूसरे व्यक्तियों के साथ सहज सम्बन्धों की अनुभूति नहीं हुई। इसलिए वह हमेशा एक प्रकार के वियोग-पूर्ण जीवन में ही रहा है। वह छद्मनामों के काल्पनिक जीवन में दिल लगा करता रहा। स्कूल और विश्वविद्यालय में भी वह अजनबी सा रहा। यद्यपि वह बहुत ही होशियार बातचीत करने में कुशल और अपने प्रति सजग करने में मशहूर रह चुका था। उस काल में हीगल का दर्शन बहुत अधिक प्रचलित था। उसने भी हीगल के दर्शन को पढ़ा और बाद में बहुत ही कड़ा विरोध किया। १८४० में इसने धर्म विधान की परीक्षा पास की और पादरी रूप सभासारी में भर्ती हो गया। इसी साल वह अपनी प्रेमिका रेगिना आल्सन से एंगेज हुआ और यह एंगेजमेन्ट १८४१ में उसने तोड़ दिया। यह ऐसी घटना थी जिसने उसके आध्यात्मिक जीवन और साहित्यिक जीवन को बहुत गहराई से प्रभावित किया। इसके बाद उसने बहुत लिखा। उसके लगन-कार्य ने डेनिश पत्र पत्रिकाओं को उसका शत्रु बना दिया। पत्र एक ऐसा पत्र है जो चर्च का समर्थन करता था। अन्तिम समय में कीर्कगार्ड ने चर्च की स्थापना का बहुत बुरी तरह से विरोध किया। इस विरोध के कारण उसका स्वास्थ्य धीरे धीरे बिगड़ता गया और १८५५ के २ अक्टूबर को कोपेनहेगन की सड़क पर चलता हुआ वह गिर पड़ा और बेहोशी की अवस्था में ही वह ११ नवम्बर को मर गया। कीर्कगार्ड का पूरा जीवन अन्तरद्वन्द्व असंगति और असामञ्जस्य में ही व्यतीत हुआ। इसका प्रभाव उसके दर्शन पर भी पड़ा है।

कीर्कगार्ड सच्चे अर्थ में अस्तित्ववादी नहीं है। अस्तित्ववाद का आज हम जो अर्थ सामयिक लेखकों में लेते हैं वह अस्तित्ववाद उसमें नहीं मिलता। फिर

शब्द म कीर्केगार्ड के अनुसार यह युग सिद्धान्तीकरण का युग था जीवन का युग नहीं धम का युग नही ।

इसलिए वह हीगल के अमूर्त विचार सामान्य सिद्धान्त पर उसके बल उसके सब अस्तित्ववाद और बुद्धि के माध्यम (mediation) का विरोध करता है । उसके अनुसार हीगल का दशन प्रतिज्ञा (commit) नही करता इसलिए उसम जिन्दा जीवन नही है । कीर्केगार्ड समष्टि के विरुद्ध व्यक्ति की रक्षा करता है अर्थात् उसके अनुसार व्यक्ति प्रमुख है । व्यक्ति की भावनाए उसके व्यवहार उसके जीवन के आधार उसकी निराशा—यही सब सच्चा जीवन है । जो दशन इस जीवन की अवहेलना करता है वह दशन केवल बौद्धिक विलास है । सच्चा दशन एक वास्तविक मानव की परिस्थिति का एकान्त और व्यक्तिनिष्ठ रूप म अध्ययन करता है । कीर्केगार्ड का यह विद्रोह अथवा यह विरोध धार्मिक प्रवृत्ति का अधिक है । वह सब प्रकार के वस्तु परक ज्ञान वस्तु परक मान्यता और स्वनिरपेक्ष विचार को अनुपयोगी मानता है । वह कहता है It is only systematists and objective philosopher who have ceas d to be human beings and have become speculative philosophy in abstract an entity which belongs in the realm of pure being



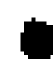
कीर्केगार्ड व्यक्ति के अलगाव की नई व्याख्या करता है । उसके अनुसार आत्मा का या व्यक्ति का समूह म गुम हो जाना यह बाहरी अलगाव है । यहा पर कीर्केगार्ड हीगल से सहमत है । हीगल के समान वह यह बात मानता है कि अलगाव-मस्तिष्क म ही अलगाव है लेकिन वह इसके विरुद्ध अमूर्त या सामान्य मस्तिष्क के स्थान पर व्यक्तिगत अलगाव का स्वीकार करता है । मनुष्य की बौद्धिक समानता भी एक प्रकार के अलगाव को प्रकट करती है । लेकिन यहा उसकी व्याख्या कुछ भिन्न है । मनुष्य ने अपनी आत्मा को भुला दिया है मनुष्य ने मनुष्य होना बन्द कर दिया है और वह धीरे धीरे असमानीय होता जा रहा है । वह इतना वस्तुपरक हो जाएगा कि वह अब असामान्य भी नही सकता । वह नास्तिक हो गया है और उसका मूल जिन्दा जीवन नष्ट हो गया है । वह सब अस्ति न । अनस्ति है और इस रूप म वह इसाई भी नही है यद्यपि बाहरी रूप म वह बच जाना ऐसा दिखाई देता है ।

कीर्केगार्ड के अनुसार यह आत्म विच्छिन्नता प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा में हो रहा किया है। लेकिन उसका संबन्ध बाहर से नहीं है। यह एक प्रकार का आंतरिक संबन्ध है और इसकी स्थिति व्यक्ति के अपनी आत्मा के प्रति एक विशेष दृष्टिकोण में है। इसलिए कीर्केगार्ड की आत्म विच्छिन्नता का एक मनोवैज्ञानिक आधार दिखाई देता है। वह इस विच्छिन्नता को दुश्चिन्ता (anxiety) के रूप में वर्णन करता है। दुश्चिन्ता भय से भिन्न है। भय का एक निश्चित कारण होता है जैसे मुझे सांप से डर लगता है। किन्तु दुश्चिन्ता का कोई निश्चित कारण नहीं होता। इसका संबन्ध किसी वस्तु विशेष से नहीं होता इसलिए वह अस्पष्ट और अनजाने संकट के आभास पर आधारित रहती है। दुश्चिन्ता मन की होती है। यह दुश्चिन्ता सभी व्यक्तियों में है ऐसा कार्केगार्ड मानता है। इस दुश्चिन्ता में मनुष्य की व्यक्तिपरकता अथवा स्वतन्त्रता टूट जाती है उसके सामाजिक संबन्ध इस दुश्चिन्ता के कारण विरोधपूर्ण हो जाते हैं। कार्केगार्ड ने अपनी पुस्तक 'The concept of dread' में दुश्चिन्ता का विशेष विवेचन किया है और इसका संबन्ध आत्मपरकता से बड़ा गहरा और मनोवैज्ञानिक बताया है। वह इसकी परिभाषा इस तरह देता है— जब व्यक्ति किसी बाहरी शक्ति से इतना अधिक भयभीत हो जाता है कि उसे अपने नाश की संभावना महसूस हो यह स्थिति ही दुश्चिन्ता है।

अपनी दूसरी पुस्तक 'Sickness unto death' में वह इस आत्म विच्छिन्नता के दूसरे स्तर पर पहुँचा है। यहां पर दुश्चिन्ता गंभीर निराशा में परिवर्तित हो जाती है और यह निराशा मृत्युपर्यन्त रोग है। इस पुस्तक में जो वर्णन है वह इन्द्रिय विषय वर्णन पद्धति का है। यह व्याख्या परिवर्ती अस्तित्ववादी मनोवैज्ञानिकों के लिए आधार रूप रही है। कार्केगार्ड के अनुसार व्यक्ति की अपनी आत्मा के प्रति संबन्धगत असंगति से निराशा उत्पन्न होती है। दूसरे शब्दों में व्यक्ति के आत्मस्वरूप बनने की प्रक्रिया में जब बाधा उत्पन्न होती है तब निराशा की उत्पत्ति होती है। यह आध्यात्मिक व्यक्ति का एक विशेष प्रकार का रोग है जो अपने आप से अलग करने के प्रयत्न से ही पैदा होता है। अथवा जो कुछ उसमें शाश्वत है उसकी उपेक्षा से या अपनी आध्यात्मिक प्रवृत्ति को भूल जाने से उत्पन्न होते हैं। कार्केगार्ड के अनुसार ईश्वर रहित और आत्मलीन व्यक्ति हमेशा निराशा से आक्रान्त रहता है। इस निराशा के कई रूपों का वर्णन कीर्केगार्ड ने किया है। यह निराशा अचेतन स्तर पर भी हो सकती है जब कि व्यक्ति अपनी इस निराशा की जानकारी नहीं रखता

और यह केवल अस्तित्व में ही नहीं रहती है जब वह जानता है कि वह निराश है। कीर्कगार्ड के अनुसार मनुष्य ससीम और असीम सम्भावना और नियति का संश्लेष है। इन दोनों तत्त्वों में स्वाभाविक विरोध है। मनुष्य स्वयं को असीम समझता है। वह असीम बनना चाहता है और बाद में उसे पता चलता है कि वह असीम न हो सकता क्योंकि असीम तो केवल ईश्वर ही है। वह अपनी असीमता पर बौद्धिक रूप में पहुँच कर निराश हो जाता है और इस निराशा के कारण वह अपनी आत्मा को भूल जाता है। असीम और ससीम का विरोध जानबूझ कर वह भुला देना चाहता है। इसी प्रकार वह अपनी सम्भावना के आधार पर सब कुछ हो सकने की चेष्टा करता है किन्तु प्राकृतिक बाधाओं के कारण उसकी यह स्वतन्त्रता अवरुद्ध होती है और वह निराशा के सागर में डूब जाता है। व्यक्ति में अपनी इस निराशा के दो निर्णायक असर दिखाई देते हैं। वह आत्म रूप को प्राप्त करने की इच्छा रखता है जिससे निराशा उत्पन्न होती है अथवा वह इस निराशा से बचने के लिए आत्म रूप प्राप्त करने की इच्छा नहीं करता है। फिर भी वह निराशा के अस्तित्व से मुक्त नहीं हो सकता है। क्योंकि वह आत्म रूप (himself) होने की इच्छा न करने में भी उतना ही निराश रहेगा जितना आत्मरूप प्राप्त करने की इच्छा में होता है। प्रथम रूप में अपनी कमजोरी के कारण से निराशा उत्पन्न होगी जबकि दूसरे रूप में समस्त प्रतिरोधों के गर्व में यह जनमेगी।

प्रकार के व्यक्तिवाद का समर्थक नहीं है। कार्कगार्ड का व्यक्तिवाद धर्म पर आश्रित है। ईश्वर के सम्मुख उसमें क्षुद्रता नहीं रहता है तभी वह सच्चे अर्थों में व्यक्ति हो सकता है क्योंकि इन सब भावों का अनुभव व्यक्तिगत है। इससे स्पष्ट होता है कि कीर्कगार्ड का व्यक्तिवाद विशिष्ट है। इसको सामान्य और विज्ञान में उत्पन्न मानवतावादी व्यक्तिवाद के रूप में हम नहीं समझना चाहिये। इस व्यक्तिवाद का अर्थ है अहं का त्याग अर्थात् अपनी ही आत्मा के संसार में अस्तित्व को प्राप्त करना। इसके शब्दों में अपने सच्चे वाहरी संसार की अपेक्षा अधिक तत्पर होना।



इस अस्तित्व के कार्कगार्ड तीन स्तर मानता है—भोग्य (aesthetic) नैतिक (ethical) और धार्मिक (religious) भोग्य स्तर में मनुष्य बच्चे के समान जीवन व्यतीत करता है। वह सुख दुख के क्षणों में जीवित रहता है। भोग्य वस्तु और भोगवृत्ता में मग्न होकर रहता है। वह भावना के स्तर पर जिन्दा रहता है। उसके लिए कोई भी वस्तु आनन्ददायक है या दुख दायक है। भोगी व्यक्ति केवल सुखपूर्ण क्षणों में रहना पसन्द करता है अर्थात् इन्द्रिय सुख ही उसका परम लक्ष्य होता है। ग्रीक चिंता धारा में एपीक्यूरियनिज्म इसी प्रकार का जीवन दर्शन था। कीर्कगार्ड मानता है कि भोगी व्यक्ति अनन्त निराशा से आक्रान्त रहता है। उस सुख की परिस्थितियों में भी दुख की अनुभूति भोगी के दुख का आभास रहता है। इसलिए भोगी व्यक्ति ऊब (boredom) से बचने के लिए अपने विषयों में परिवर्तन करता रहता है। वह पूरी तरह से भौतिक स्तर पर जीवन व्यतीत करता है। कार्कगार्ड इस भोग्य स्तर में एक बहुत नवीन अर्थ भी देखता है। उसके अनुसार विचारात्मक दार्शनिक या बौद्धिक भी इसी स्तर पर जीवित रहता है। बौद्धिक व्यक्ति विषयों की निरपेक्षता में रहता है।

भोगी जीवन का स्तर न इतिहास कभी भी पूर्ण नहीं होता क्योंकि वह इसका इन्द्रिय स्तर पर जीवित रहता है। इसका मानना यह है कि कार्कगार्ड इस अवस्था को पूर्ण तरह से उपेक्षा योग्य मानता है। वह यह चाहता है कि वह जन्मा जीवन की दूसरी अवस्थाओं का ज्ञान न हो। यह अवस्था जीवन को समझना का एक अवसर है। तभी जबकि इस स्तर पर निम्न

मनुष्य के पूरे जीवन और पूरी प्रकृति का परिवर्तित हो जाना। कीर्केगार्ड इसको योरोप की लड़ाई या विश्व युद्ध से भी अधिक भयानक और हृदय को रौंदन वाली घटना मानता है। क्योंकि इसके कारण मनुष्य के मन के विश्व में गहराई से आन्दोलन उत्पन्न होता है। धार्मिक बनने का अर्थ या क्रिश्चियन होने का अर्थ सच्चे अस्तित्व के आधार में प्रभावित होना है और सभी प्रकार की जिम्मेदारियों के साथ कार्य करना है। इस स्तर पर साथ साथ त्याग और ज्ञान प्राप्ति के दो काम मनुष्य को करने पड़ते हैं। सच्चा अस्तित्व अन्दर में छिपा हुआ है जबकि सामान्य स्थिति स्थूल है प्रकट है। इस सामान्य स्थिति का सम्बन्ध पूर्व विवेचित भोग्य और नैतिक स्तर से है। धार्मिक क्षेत्र में उसे इस स्थूल स्थिति का त्याग करना पड़ता है और मन में छिपे हुए सच्चे अस्तित्व को प्रकट करना पड़ता है। इसीलिए उसमें हमेशा एक प्रकार का तनाव रहता है। कीर्केगार्ड कहता है कि यही मनुष्य की अन्तर्मुखता है सत्य विषयिता है। कीर्केगार्ड के अनुसार ईश्वर को इसी रूप में आन्तरिक स्थिति है। यहाँ एक बात और ध्यान में लाने योग्य है कि कीर्केगार्ड भोग्य और नैतिक स्तरों को उस रूप में त्याज्य नहीं समझता है जिस रूप में एक भारतीय सन्यासी या मन त्याज्य समझता है। कीर्केगार्ड के अनुसार इन दोनों स्तरों को धार्मिक स्तर के अन्तर्गत रखना पड़ता है। इसलिए प्रत्येक क्षण इन स्तरों के दबाव के कारण उसे दुश्चिन्ता और निराशा का सामना करना पड़ता है। इसलिए धार्मिक स्तर पर व्यक्ति को अपने निर्णय का प्रत्येक क्षण पुनर्जीवित करना पड़ता रहता है। पुनर्जीवित का अर्थ है ईश्वर के सामने बार बार अपने आत्म रूप को प्राप्त करना। वह अपने अस्तित्व में जो किया जा चुका उसे दूर कर देता है और जिन वस्तुओं को वह पहले छोड़ देता है उनको वह फिर ग्रहण करता है और फिर स्थितप्रज्ञ स्थिति प्राप्त कर लेता है पर यह उसे हर क्षण करना पड़ता है। हर क्षण उसे स्थितप्रज्ञ बनना पड़ता है। इस तरह वह वरण करने का तारतम्य चलता रहता है। यह एक नियम हो जाता है।

यहाँ कीर्केगार्ड का क्रिश्चियन होने का क्या अर्थ है यह जानना भी आवश्यक है। क्रिश्चियन होने का अर्थ है भगवान के सम्मुख शुद्ध मात्र से अपने सच्चे रूप में यह अनुभव करना कि भगवान किसी भी प्रकार वस्तुपरक सिद्धान्तों के द्वारा ज्ञात नहीं होते हैं अर्थात क्रिश्चियन होने का अर्थ है व्यक्तिगत स्तर पर धर्म को स्वीकार करना और भगवान को भी सिद्धान्त के रूप में न लेकर एक स्वाभाविक स्थिति के रूप में स्वीकार करना। केवल क्रिश्चियन समाज

म नम नन म या चय म नान म न का व्यक्ति विश्चियन नहीं हो जाता। इसलिए विश्चियन होने का मतलब मानव होना अथात सजीव स्थिति का अनुभव करना उसके अनुसार काय करना है। मस्थागत धम और धम विषयक सिद्धान्त म उनसे धम का बना विराध है। कार्कगार्ड समूह धम म विश्वास नहीं करता और धम के उपदेश पत्र म भी विश्वास नहीं करता। कीर्कगाद के जीवन की मुख्य समस्या यही है इसी म कार्कगार्ड का पूरा विचार-तन्त्र घूमता रहा है। कार्कगार्ड न अपनी पुस्तक Concluding un cientific post script म जो विवेचन किया है वह विवेचन कार्कगार्ड के पूरे दार्शनिक दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करता है। इस पुस्तक म प्रस्थापित उसकी मान्यताओं को संक्षेप म इस इस प्रकार रख सकते हैं—

(१) सच्चा सारभूत ज्ञान अस्तित्व म सम्बन्धित होता है और केवल वही ज्ञान जिसका अस्तित्व से सारभूत सबन्ध है सारभूत ज्ञान है। इसका अर्थ है कि अस्तित्व की धारणा सारभूत ज्ञान नहीं है सजीव अस्तित्व म सबन्धित निर्णय-पद्धति का ज्ञान ही सच्चा सारभूत ज्ञान (essential knowledge) है।

(२) वह पूरा ज्ञान जिसका सबन्ध अस्तित्व म नहीं है और जो केवल विचारों पर आश्रित है असारभूत ज्ञान है।

( ) वस्तुपरक विचार और ज्ञान को आत्मपरक विचार और ज्ञान म अलग समझना चाहिये। वस्तुपरक विचार विषय म अमूर्त वस्तुपरक सत्य (objective truth) की ओर ले जाता है। (जैसे गणित शास्त्र और इतिहास का ज्ञान) इस तरह इस शास्त्र म अस्तित्व की पूरी तरह अवहेलना होता है। वह अस्तित्व के प्रति उदासीन रहता है।

(४) वस्तुपरक विचार करने की पद्धति वस्तुपरक तथ्य के प्रति उन्मुख है जबकि अन्तर और आन्तरिक सत्य के प्रति वह उदासीन रहता है। फलत यह वस्तुपरकता केवल एक धारणा मात्र होता है अतः अस्तित्व का निर्माण नहीं करता।

(५) आन्तरिक ज्ञान म अनिवार्य आत्मसात्करण (appropriation) आवश्यक है। आन्तरिक विचार म अस्तित्व आत्मसात्करण रूप में आता है। इसलिए जब अस्तित्व का ज्ञान व्यक्ति का स्वकीय

वस्तुओं के पूर्ण ज्ञान और पूर्ण प्राप्ति का परित्याग हो जाना। नैतिक स्तरों द्वारा की गई या किये गये भी अन्तर्विरोध और द्वन्द्व को भी धारा पड़ता जाता है। क्योंकि इस कारण मनुष्य के मन के भीतर में तनाव और चिन्ता उत्पन्न होता है। धार्मिक स्तर का यह जो क्रिश्चियन ज्ञान का अर्थ है अस्तित्व के आधार से प्रकाशित होना है और सदा नैतिक की जिम्मेदारियों के साथ साथ चलना है। इस स्तर पर साथ साथ त्याग और ज्ञान प्राप्ति के भी काम मनुष्य का ध्यान रहता है। इसे धार्मिक स्तर में लिया गया है क्योंकि सामान्य स्थिति स्थूल है अतः है। इस सामान्य स्थिति का सम्बन्ध पूर्व विवेचित सौन्दर्य और नैतिक स्तर से है। धार्मिक स्तर में उसे इस स्थूल स्थिति का त्याग करना पड़ता है और मन में स्थित इस सत्य अस्तित्व को प्रकट करना पड़ता है। इसलिए उसमें हमेशा एक प्रकार का तनाव रहता है। कीर्केगार्ड कहता है कि यहां मनुष्य की अन्तर्मुखता ही सब जटिलता है। कीर्केगार्ड के अनुसार ईश्वर का ज्ञान रूप में मानसिक स्थिति है। यहां एक बात और ध्यान में रखने योग्य है कि कीर्केगार्ड सौन्दर्य और नैतिक स्तरों को उस रूप में त्याज्य नहीं समझता है जिस रूप में एक भारतीय सन्यासी या संत त्याज्य समझता है। कीर्केगार्ड के अनुसार इन दोनों स्तरों को धार्मिक स्तर के अन्तर्गत लेना पड़ता है। इसलिए प्रत्येक क्षण इन स्तरों के दबाव के कारण उसे दुश्चिन्ता और निराशा का सामना करना पड़ता है। इसलिए धार्मिक स्तर पर व्यक्ति को अपने निर्णय को प्रत्येक क्षण पुनर्जीवित करना पड़ता रहा है। पुनर्जीवित का अर्थ है ईश्वर के सामने बार बार अपने आत्म रूप को प्राप्त करना। वह अपने व्यक्तित्व में जो किया जा चुका उसे दूर कर देता है और जिन वस्तुओं को वह पहले छोड़ देता है उनको वह फिर ग्रहण करता है और फिर स्थितप्रज्ञ स्थिति प्राप्त कर लेता है पर यह उसे हर क्षण करना पड़ता है। हर क्षण उसे स्थितप्रज्ञ बनना पड़ता है। इस तरह वह वरण करने का निरन्तर चलता रहता है। यह एक नियम हो जाता है।

यहां कीर्केगार्ड का क्रिश्चियन ज्ञान का क्या अर्थ है यह जानना भी आवश्यक है। क्रिश्चियन ज्ञान का अर्थ है भगवान के सम्मुख शुद्ध भाव से अपने सहज रूप में यह अनुभव करना कि भगवान किसी भी प्रकार वस्तुपरक सिद्धान्तों के द्वारा रचित नहीं है अर्थात् क्रिश्चियन ज्ञान का अर्थ है व्यक्तिगत स्तर पर धर्म का अनुभव करना और भगवान को भी सिद्धान्त के रूप में न लेकर एक सजीव स्थिति के रूप में स्वीकार करना। केवल क्रिश्चियन समाज

म न म लत म या श्च म जात स न कोइ यदि निश्चयन नही हो जाता। इसलिये निश्चयन होने का मतलब मानव ज्ञाना अर्थात सजीव स्थिति या अनुभव करना उसके अनुसार कार्य करना है। परम्परागत धर्म और धर्म विषयक सिद्धांत म उक्त धर्म का वना विरोध है। कीर्कगार्द समूह धर्म म विश्वास नहा करता और धर्म के बाहर पक्ष म भी विश्वास नहा करता। कीर्कगार्द के जीवन की मुख्य समस्या यही है इसी म कीर्कगार्द का पूरा विचार तन्त्र घूमता रहा है। कीर्कगार्द ने अपनी पुस्तक Concluding unscientific post script म जो विवेचन किया है वह विवेचन कीर्कगार्द के पूरे दार्शनिक दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करता है। उस पुस्तक म प्रस्थापित उसकी मान्यताओं को संक्षेप म हम इस प्रकार रख सकते हैं—

(१) सच्चा सारभूत ज्ञान अस्तित्व से सम्बन्धित होता है और केवल वही ज्ञान जिसका अस्तित्व से सम्बन्ध है सारभूत ज्ञान है। इसका अर्थ है कि अस्तित्व की धारणा सारभूत ज्ञान नही है, सजीव अस्तित्व स सम्बन्धित आत्मिक पद्धति का ज्ञान ही सच्चा सारभूत ज्ञान (essential knowledge) है।

(२) वह पूरा ज्ञान जिसका सम्बन्ध अस्तित्व से नही है और जो केवल विचारों पर आश्रित है असारभूत ज्ञान है।

( ) वस्तुपरक विचार और ज्ञान को आत्मपरक विचार और ज्ञान स अलग समझना चाहिये। वस्तुपरक विचार विषय स अमूर्त वस्तुपरक सत्य (objective truth) की ओर ले जाता है। (जैसे गणित ज्ञान और इतिहास का ज्ञान) इस तरह इस दशा म अस्तित्व की पूरी तरह अवहेलना होती है। यह अस्तित्व के प्रति उदासीन रहता है।

(४) वस्तुपरक विचार करने की पद्धति वस्तुपरक तथ्य के प्रति उन्मुख है जबकि अन्तर और आन्तरिक सत्य के प्रति वह उदासीन रहती है। फलत यह वस्तुपरकता केवल एक धारणा मात्र रहता है [illegible] अस्तित्व का निरूपण नहा करता।

(५) आन्तरिक ज्ञान म वैयक्तिक आत्मसात्करण (appropriation) आवश्यक है। आन्तरिक विचार म अस्तित्व आत्मसात्करण रूप म आता है। इसलिये अपने अस्तित्व का ज्ञान व्यक्ति का स्वकीय

अस्तित्ववादी ज्ञान का एक विषय मात्र समझें। इसका सम्बन्ध उस विचार मुझ से है जहां विषय अपने विचार में engage होता है। विचार ही अस्तित्ववादी के लिये आवश्यक नहीं है इसके लिए जीना आवश्यक है। व्यक्ति को अपने विचार को जानना पड़ता है उसे अपने विचार को आत्मसात करना पड़ता है अर्थात् विचारों को अपना बनाना पड़ता है इस तरह कि यह आन्तरिक विचार पूरी तरह से एक प्रक्रिया बन जाय ज्ञान की प्राप्ति के रूप में रहित जीवन क्रिया मात्र रहे। यही अस्तित्व है।

इसलिये यह बात फिर सामने आती है कि आन्तरिक अस्तित्व क्या है? कीर्केगार्ड का अस्तित्व से क्या अर्थ है? क्या उसका यह सिद्धान्त है कि अस्तित्व आन्तरिक है प्रधान माना गया है? कीर्केगार्ड अस्तित्व की यह व्याख्या नहीं करता है जो वास्तविक व्यापार करने से जो वस्तुपरक है। वास्तव में कीर्केगार्ड के अस्तित्व का अर्थ वह है जिस अर्थ में सामान्य भाषा में प्रायः इसे प्रयुक्त करते हैं। मैं अपने मित्र के प्रति सच्चा हूं—इसका अर्थ है कि मैं अपने मित्र के प्रति वफादार हूं। इसलिए कीर्केगार्ड का अस्तित्व आत्मा का सच्चा स्वरूप है अपने प्रति ईमानदारी है। इस अर्थ में यह अस्तित्व का आत्मा का अस्तित्व नहीं है। मनुष्यों का अस्तित्व है। यह वफादारी केवल सम्बन्धित व्यक्ति की अपने भिन्न व्यक्ति के प्रति नहीं है बल्कि सम्बन्धित स्वरूप के प्रति सम्बन्धित व्यक्ति की ईमानदारी है। स्पष्ट है कि कीर्केगार्ड अस्तित्व को धार्मिक अर्थ ग्रहण करता है।

अब हम विचार करें कि कीर्केगार्ड के दर्शन ने आज के युग में कौन सी बात नयी है जो उपयोगी है। कीर्केगार्ड ने अपने युग का जो विचार किया था जिस समूह मनुष्यों की समस्याओं का चित्रण किया गया था वह आज भी वहां की वहां बनी हुई हैं। बल्कि कुछ और बढ़ गयी हैं। दुनिया में वैज्ञानिक औद्योगिक विकास राजनीतिक क्षेत्र में तानाशाही के विकास और सामाजिक क्षेत्र में भय की आशंका और चिन्ता की व्याप्ति के कारण आज का मनुष्य धीरे धीरे समूह मनुष्य बनता जा रहा है। अब अपने व्यक्तित्व या अस्तित्व को भूलता जा रहा है। इसलिये व्यक्ति की स्वतंत्रता का कीर्केगार्ड ने जो इतना अधिक महत्व दिया है वह आज भी उतना ही महत्वपूर्ण है। उनका जो प्रश्न उठाया था वह आज भी जीवित है। यही कारण है कि आज के विचारों की दार्शनिक समस्याओं के विचार के सिलसिले में कीर्केगार्ड

में [illegible] है। [illegible]
धार्मिक [illegible] किया करता है।

[illegible] के अनुसार [illegible] है। इस अनुसार
[illegible] के बारे में [illegible] है। [illegible] बुद्धि [illegible]
[illegible] है। [illegible] है। [illegible] अनुसार [illegible]
[illegible] है और [illegible]
[illegible] है।
धार्मिक [illegible] और धार्मिक [illegible]
[illegible] प्रकार बुद्धि [illegible] क्योंकि बुद्धि
इस व्यवस्था [illegible] है। बुद्धि [illegible] उत्पन्न [illegible] जिसका [illegible]
होगा मनुष्य सामाजिक [illegible] रूप में व्यक्तिगत प्रवृत्तियों के आधार
पर जीवित रहने लगेगा। इस प्रकार की अराजकता उत्पन्न होगा। इस तरह
[illegible] का [illegible] समाज के संगठन में बहुत उपयोगी लगता है।

४

कार्ल यास्पर्स
(Karl Jaspers)

यास्पर्स आधुनिक अस्तित्ववाद का जनक है। यास्पर्स का जीवन बहुविध रहा है। उसने हुनर्बान में कानून का अध्ययन किया। फिर सात वर्ष तक चिकित्सा विज्ञान के अध्ययन के पश्चात एक मनोरोग औषधालय में सहायक रहा। १९१६ में मनोविज्ञान में व्याख्याता हो गया। और तब से वह हाइडलबर्ग के दर्शन में ही दर्शन के आचार्य के रूप में कार्य कर रहा है। यास्पर्स के दर्शन में स्थापित मनोवैज्ञानिक विश्लेषण अधिक प्राप्त होता है। वह असामान्य (abnormal) वृत्तियों के वर्णन में बेजोड़ रहा है।

यास्पर्स ने भी कीर्केगार्ड के समान आज युग की मानवीय दशा का निदान किया है। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक Man in the Modern World में वह आधुनिक परिवेश में मनुष्य की स्थिति और उसकी समस्या का बड़ा सटीक वर्णन करता है। यास्पर्स की समस्या कुछ कुछ कीर्केगार्ड द्वारा चित्रित समस्या से मेल खाती है। समस्या आज आत्म-विच्छिन्नता और अलगाव (alienation) की है। इस समस्या का मूल कारण तकनीकी युक्तियों की सहायता से योजित उत्पादन (planned production) में जनसाधारण की समाहिति है। जनसाधारण भी योजित उत्पादन का अंग या यंत्र बनता जा रहा है। मनुष्य आधुनिक राज्य की मशीन का एक पुर्जा बन जाने के खतरे में है और इस प्रकार वह अपने सत्य आत्मा और आध्यात्मिक केन्द्र से च्युत हो गया है। अथवा इसे पूर्णतः भूल गया है। संसार में मनुष्य व्यक्ति की जगह समूह व्यक्ति (mass man) बनता जा रहा है। वह अपना प्रामाणिक जीवन को छोड़कर अप्रामाणिक सामान्य जीवन को जी रहा है। वह राज्य के माध्यम के रूप में

स प्रेरणा प्राप्त करने रहे ह। क्योंकि कार्कगार्ड अनगाल विडिवना श्रौर आधुनिक स्थितियों का ही भावनात्मक चित्रण करता है।

कार्कगार्द के दर्शन म वस्तुपरकता म पूर्ण प्रतिगामिता है। उस वस्तुपरक सत्य के अस्तित्व के बारे म ही शंका पदा की गई है। यह बात बुद्धि विरोधी दिखाइ देती है। इसलिए ग्राह्य नही है। क्योंकि वस्तुपरक अस्तित्व अपने क्षेत्र म कार्यशील रहता है और उसकी आवश्यकता हम स्वीकार करना चाहिय। वैज्ञानिक क्षेत्र म वस्तुपरक सत्य की प्राप्ति करने का गुण उसम है। वैज्ञानिक निष्कर्ष और वैज्ञानिक आविष्कारों को हम पूरी तरह से छोड़ नही सकते। इसी प्रकार बुद्धि का भी हम तिरस्कार नही कर सकते क्योंकि बुद्धि हम व्यवस्था देती है। बुद्धिहीनता अव्यवस्था ही उत्पन्न करेगा जिसका अर्थ होगा मनुष्य सामाजिक न रहकर पूरी तरह म व्यक्तिगत प्रवृत्तियों के आधार पर जीवित रहने लगेगा। एक प्रकार की अराजकता उत्पन्न होगा। इस तरह कार्कगार्ड का दर्शन समाज के सन्दर्भ म और अनुपयोगी लगता है।



४

कार्ल यास्पर्स

(Karl Jaspers)

यास्पर्स आधुनिक अस्तित्ववाद का जनक है। यास्पर्स का जीवन बहुविध रहा है। उसने शुरुआत में कानून का अध्ययन किया। फिर तीन वर्ष तक चिकित्सा विज्ञान के अध्ययन के पश्चात् वह मनोरोग औषधालय में सहायक रहा। १९१३ में मनोविज्ञान में व्याख्याता हो गया। और तब से वह शिक्षण के क्षेत्र में ही दर्शन के आचार्य के रूप में कार्य कर रहा है। यास्पर्स के दर्शन में रुग्णात्मक मनोवैज्ञानिक विश्लेषण अधिक प्राप्त होता है। वह असामान्य (abnormal) व्यक्तियों के वर्णन में बजाड रहा है।

यास्पर्स ने भी कीर्केगार्ड के समान अपने युग की मानवीय दशा का निदान किया है। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक Man in the Modern World में वह आधुनिक परिवेश में मनुष्य की स्थिति और उसकी समस्या का बड़ा सटीक वर्णन करता है। यास्पर्स की समस्या कुछ कुछ कीर्केगार्ड द्वारा चित्रित समस्या से मेल खाती है। समस्या आज भी—विच्छिन्नता और अलगाव (alienation) की है। इस समस्या का मूल कारण तकनीकी युक्तियों की सहायता से योजित उत्पादन (planned production) में जनसाधारण की समाहिति है। जनसाधारण भी योजित उत्पादन का अंग या यंत्र बनता जा रहा है। मनुष्य आधुनिक राज्य की मशीन का एक पुर्जा बन जाने के खतरे में है और इस प्रकार वह अपने सत्य आत्मा और आध्यात्मिक केन्द्र से च्युत हो रहा है। अथवा इसे पूर्णत भूल रहा है। समाज में मनुष्य व्यक्ति की जगह समूह व्यक्ति (mass man) बनता जा रहा है। वह अपने सामाजिक जीवन को छोड़कर असामाजिक सामान्य जीवन को जी रहा है। वह राज्य के माध्यम के रूप में

परिवर्तित हो रहा है। इसलिए आज के व्यक्ति की अस्मिता का खतरा है। वह समूहगत व्यवस्था में अपने व्यक्ति-अस्तित्व को कैसे बनाये रखे? वह मनुष्य कैसे रहे? यही आज का सबसे बड़ा प्रश्न है। औद्योगिक और तकनीकी उन्नति, राजनीतिक वाद और जीवन में बढ़ती हुई वस्तु अभिमुखता ने अमानवीकरण (dehumanization) और व्यक्तिवाद को उत्पन्न कर दिया है। ये दोनों मनुष्य के एकान्त अस्तित्व को दबाये हुए हैं। यास्पर्स का समाधान है कि प्रत्येक मनुष्य अपने ऐतिहासिक सत्त्व—आत्मा—की रक्षा कर उसे सजगता से प्रतिष्ठित करे। अपने इस समाधान में उसने पूरे दर्शन की परम्परा को सूक्ष्म रूप में समाविष्ट कर लिया है। और इसे एक नया रूप दिया है।

दर्शन के क्षेत्र में यास्पर्स इस धारणा से आरम्भ करता है कि एक प्रदत्त बाह्य विश्व है जिसमें चिन्तक स्थित है, जीता है और कार्य करता है। यह विश्व ठोस वस्तुओं द्वारा निर्मित है। ये वस्तुएँ व्यक्ति के ज्ञान को अनुशासित करती हैं। यह विज्ञान का विश्व है। यह वस्तुरूप है क्योंकि यह बोध अथवा अनुभव गम्य है और हमारा सम्प्रेषण के लिए विचारात्मक प्रत्ययभूत प्रतिनिधि प्राप्त किया जा सकता है। अर्थात् हमारा वस्तुगत ज्ञान अथवा विज्ञान प्राप्त किया जा सकता है जो सब लोगों को बौद्धिक स्तर पर मान्य प्रतीत होती साथ ही सकता है। विज्ञान इस प्रकार बोधगम्य विश्व और मानवीय बोधात्मकता में एक विशेष प्रकार का सम्बन्ध है।

यास्पर्स अस्तित्व (b in) के तीन रूप मानता है—१—तत्रास्तित्व (being there) २—स्वास्तित्व (being oneself) और ३—स्वतःअस्तित्व (being in itself)। तत्रास्तित्व में [illegible] के निरूपण में [illegible] स्पष्ट हो जा सकता है। [illegible] अर्थात् [illegible] में [illegible]। [illegible] तत्रास्तित्व की [illegible] स्थिति है। [illegible] हैं। [illegible] तत्र की निर्मिति [illegible] एक दूसरी की भी व्यञ्जना करता है मानसिक [illegible] विच्छिन्नता और विरुद्धधर्मिता। इस [illegible] सकते हैं। तत्रास्तित्व में [illegible] के लिए स्वास्तित्व का [illegible]। [illegible] तत्रास्तित्व [illegible] स्वास्तित्व [illegible] है

* यास्पर्स ने तत्र [illegible] का निरूपण [illegible] किया है। जर्मन भाषा के De sein [illegible] में [illegible] है। [illegible] किया गया है।

या स्वास्तित्व वह है जो तथास्तित्व नहीं है । इस कठिन धारणा को सरल उदाहरणों से हम यों समझ सकते हैं । तथास्तित्व वह अस्तित्व है जो दत्त है अर्थात् जो प्रदत्त है जिसका निर्माण मनुष्य की चेतना नहीं करती किन्तु जिसका अनुभव या भोग उस को उसके द्वारा होता है । यह अनुभवगम्य (empirical) अस्तित्व है । अपनी सुविधा के लिए हम इसे दो रूपों में समझ सकते हैं । इस अस्तित्व का एक रूप भौतिक अथवा प्राकृतिक (physical or natural world) है जो ठोस है किन्तु परिवर्तन और परिवर्तन में भी सम । यह अस्तित्व स्वतन्त्र है तथा स्वयं के भौतिक नियमों अथवा प्राकृतिक प्रक्रिया—कार्यकारण परम्परा आदि—से पूर्णतः बद्ध है । कुछ ज्ञात अथवा अज्ञात नियम हैं जो इसकी स्थिति गति और प्रवृत्ति के लिए उत्तरदायी हैं । इसे हम प्रकार से मनुष्य का भौतिक परिवेश कह सकते हैं । व्यक्ति का शारीरिक अस्तित्व सामाजिक परिवेश और मानसिक प्रदाय (psychic given ness) में तथास्तित्व का दूसरा प्रकार परिकल्पित किया जा सकता है । मनुष्य किसी विशेष देश विशेष समाज विशेष परिवार और विशेष काल में जन्म लेता है । उसे एक विशेष आकृति वाला शरीर प्राप्त होता है । इस शरीर से सम्बद्ध अनेक शारीरिक और मानसिक तत्त्व (psychic elements) उसे अनायास और अनिच्छित रूप में ग्रहण करने पड़ते हैं । वह इन सब वस्तुओं का सादृश्य नहीं लेता । माँ बाप देश और स्वभाव का चुनाव करने की स्वतन्त्रता उसमें इस अवस्था में नहीं है । यह जन्मजात अस्तित्व है । ये समय के तथ्य हैं । अतः तथास्तित्व है ।

इस तरह से मनुष्य भी शरीर रूप होने के कारण एक प्रकार से तथास्तित्व है । वह तथास्तित्व में रहता है इससे अन्य वस्तुओं से सम्बद्ध होता है और उन पर आश्रित भी है । फिर भी वह उनमें बद्ध नहीं है । उसमें कुछ ऐसा है जो इन सबका अतिक्रमण करता है और अपनी स्वतन्त्र सत्ता का निर्माण करता है । वास्तव में इसे आत्मा (self) या आत्म चेतना कहना है । इसका प्रमुख धर्म है स्वतन्त्रता । इस स्वतन्त्रता का मतलब तथास्तित्व के कार्य कारण के क्रम का खण्डन करना नहीं है बल्कि इस कार्य-कारण शृंखला में रहते हुए अर्थात् इसको मानते हुए इस बात का साक्षात्कार करना है कि मैं मानसिक अथवा शारीरिक या भौतिक कार्य-कारण में होते हुए भी इसका अतिक्रमण कर सकता हूँ । मैं केवल कार्य कारण की शृंखला ही नहीं हूँ । दूसरे शब्दों में

परिवर्तित हो रहा है। इसलिए आज के व्यक्ति की अस्तित्वहीनता का खतरा है। वह समूहगत स्थान में अपना व्यक्ति-अस्तित्व को कम बनाए रखे व मनुष्य कम रहे? यही आज का सबसे बड़ा प्रश्न है। औद्योगिक और तकनीकी उन्नति राजनीतिक वाद और जीवन में बढ़ती हुई वस्तु अभिमुखता ने अमानवीकरण (dehumanization) और इन्द्रियवाद को उत्पन्न कर दिया है। ये राक्षस मनुष्य के एकान्त अस्तित्व को पाटों में दबाए हुए हैं। यास्पर्स का समाधान है कि प्रत्येक मनुष्य अपने ऐतिहासिक सत्त्व—आत्मा—की रक्षा कर उसे स्वतन्त्रता में प्रतिष्ठित करे। अपने इस समाधान में उसने पूरे दर्शन की परम्परा को सूक्ष्म रूप में समाहित कर लिया है। और इसे एक नया रूप दिया है।

दर्शन के क्षेत्र में यास्पर्स इस धारणा से आगे बढ़ता है कि एक प्रदत्त बाह्य विश्व है जिसमें चिन्तक स्थित है, जाता है और कार्य करता है। यह विश्व नाना वस्तुओं द्वारा निर्मित है। ये वस्तुएं व्यक्ति के व्यवहार को अनुशासित करती हैं। यह विज्ञान का विश्व है। यह वस्तुरूप है क्योंकि यह बोध अथवा अनुभव गम्य है और इसका सम्प्रेषण के लिए विचारात्मक प्रत्ययभूत प्रतिनिधि प्राप्त किया जा सकता है। अर्थात् इसका वस्तुपरक ज्ञान अथवा विज्ञान प्राप्त किया जा सकता है जो सब लोगों को बौद्धिक स्तर पर ग्राह्य एवं स्वीकार्य हो सकता है। विज्ञान इस प्रकार बोधगम्य विश्व और मानवीय आत्मपरकता में एक विशेष प्रकार का सम्बन्ध है।

यास्पर्स अस्तित्व (being) के तीन रूप मानता है—१—तत्रास्तित्व (being there) २—स्वास्तित्व (being oneself) और ३—स्वतःअस्तित्व (being in itself)। तत्रास्तित्व में तत्र के निरूपण से बात स्पष्ट हो जाती है। तत्र अर्थात् [illegible]। फलतः तत्रास्तित्व की [illegible] स्थिति है। दूसरा ज्ञान—तत्र [illegible] है। इस तत्र की [illegible] मनुष्य [illegible] सकता है [illegible] अभाव विच्छिन्नता और विरुद्धधर्मिता। इस [illegible] है। तत्रास्तित्व में [illegible] के बिना स्वास्तित्व का [illegible] है। [illegible] तत्रास्तित्व [illegible] स्वास्तित्व [illegible] है

[illegible] का निरूपण [illegible] किया है। [illegible] De sein [illegible] है। [illegible] है।

या म्नाम्नित्व वह है जो तत्त्वास्तित्व नहीं है। इस वस्ति धारणा की सरल व्याख्या हम यो कर सकते हैं। तत्त्वास्तित्व वह अस्तित्व है जो वह है अर्थात् जो प्रदत्त है जिसका निर्माण मनुष्य की चेतना नहीं करती किन्तु जिसका अनुभव या ज्ञान उस को इन्द्रिय द्वारा होता है। यह अनुभवगम्य (empirical) अस्तित्व है। अपनी सुविधा के लिए इस हम दो रूपों में समझ सकते हैं। इस अस्तित्व जगत् का एक रूप भौतिक अथवा प्राकृतिक (physical or natural world) है जो स्थिर नहीं किन्तु परिवर्तन और परिवर्तन में है। यह अस्तित्व स्वतन्त्र न होकर स्वयं के भौतिक नियमों अथवा प्राकृतिक प्रक्रिया—कार्यकारण परम्परा आदि—से पूर्णतः बद्ध है। कुछ ज्ञात अथवा अज्ञात नियम हैं जो इसकी स्थिति, गति और प्रवृत्ति के लिए उत्तरदायी हैं। इसे हम सक्षेप में मनुष्य का भौतिक परिवेश कह सकते हैं। व्यक्ति का शारीरिक अस्तित्व, सामाजिक परिवेश और मानसिक प्रदाय (psychic given ness) में तत्त्वास्तित्व का दूसरा प्रकार परिकल्पित किया जा सकता है। मनुष्य किसी विशेष देश, विशेष समाज, विशेष परिवार और विशेष काल में जन्म लेता है। उसे एक विशेष आकृति वाला शरीर प्राप्त होता है। इस शरीर से सम्बद्ध अनेक शारीरिक और मानसिक तत्त्व (psychic elements) उसे अनायास और अनिच्छित रूप में ग्रहण करने पड़ते हैं। वह इन सब वस्तुओं का मालिक नहीं होता। माँ-बाप, देश और स्वभाव का चुनाव करने की स्वतन्त्रता उसमें इस अवस्था में नहीं है। यह जन्मजात अस्तित्व है। इस के समय से तय है। अतः तत्त्वास्तित्व है।

इस तरह से मनुष्य भी शरीर रूप होने के कारण एक प्रकार से तत्त्व होता है। वह तत्त्वास्तित्व से रहता है, इसका अन्य वस्तुओं से सम्बद्ध होता है और उन पर आश्रित भी है। फिर भी वह उनसे बद्ध नहीं है। उसमें कुछ ऐसा है जो इन सबका अतिक्रमण करता है और अपनी स्वतन्त्र सत्ता का निर्माण करता है। सार्त्र इसे आत्मा (self) या आत्म-चेतना कहता है। इसका प्रमुख धर्म है स्वतन्त्रता। इस स्वतन्त्रता का मतलब तत्त्वास्तित्व के कार्य-कारण के नियम का खण्डन करना नहीं है बल्कि इस कार्य-कारण शृंखला में रहते हुए अर्थात् उनसे बाधित होते इस बात का साक्षात्कार करना है कि मैं मानसिक अथवा शारीरिक या भौतिक कार्य-कारण में होते हुए भी इसका अतिक्रमण कर सकता हूँ। मैं केवल कार्य-कारण का दास ही नहीं हूँ। दूसरे शब्दों में

मैं भूत (भौतिक अस्तित्व) अथवा विचार (मानसिक अस्तित्व) नहीं हूँ। तो प्रश्न उठता है कि मैं क्या हूँ? इसका उत्तर यास्पर्स के अनुसार यह होगा कि मैं वह हूँ जो मैं चुनता हूँ, वरण करता हूँ। अर्थात् निश्चय करता हूँ। यह चुनाव स्वयं बिना किसी बाह्य आग्रह के स्वतन्त्र होना चाहिए। अतः इस चुनाव और इस निश्चय के लिए मैं अर्थात् मनुष्य स्वयं उत्तरदायी है। फलतः वस्त्वस्तित्व में रहते हुए उसके बन्धनों से मुक्त होकर या उसका अतिक्रम करके स्वतन्त्र वरण करना और तत्सम्बद्ध उत्तरदायित्व का वहन करना स्वास्तित्व (existenz) का धर्म है।

स्वतःस्थित्व (being in itself) की धारणा कुछ अधिक सूक्ष्म है। विषय (object) और विषयी (subject) के द्वन्द्व में स्वतन्त्र और अनात्म [illegible] हैं। [illegible] है किन्तु वास्तव स्वतःस्थित्व न [illegible] है। यह अलग भिन्न नहीं है। यह द्वन्द्व का समाहार है। भारतीय परम्परा के शब्द का प्रयोग करें तो यह निर्विकल्पात्मक है। इसमें सब विरोध समाहित हैं। इसकी अनुभूति स्वास्तित्व प्राप्त व्यक्ति को हो जाती है। इसकी वस्तुनिष्ठ धारणा (concept) नहीं बनाई जा सकती। इसका अनुभव किया जा सकता है। स्वास्तित्व की प्राप्ति के पश्चात् मनुष्य स्वतःस्थित्व के स्तर का अनुभव करता है। यह एक मौन भाषा है जो परिधियों से जानी जाती है। इन परिधियों का अर्थ प्रत्येक व्यक्ति अपना [illegible] के अनुसार लगाता रहता है। यह [illegible] और [illegible] है किन्तु यह [illegible] और [illegible] में [illegible]

फलत यह अधिक गतिशील, अस्पष्ट और आत्मपरक (subjective) बन जाता है।*

मनुष्य चरम सत्य (absolute reality) की प्राप्ति करना चाहता है जिससे कि उसके जीवन की मधुरता, परिवर्तनशीलता, अस्थिरता, संघर्ष आदि अनुपस्थित हो जायें और एक शान्ति और आनन्द अनुभूति उसे प्राप्त हो। इस चरम सत्य की प्राप्ति का एक तरीका विज्ञान है। विज्ञान वस्तुपरक यथार्थ का अध्ययन करता है और विज्ञान प्रभावित दृष्टि अनुभवगम्य जगत् को ही सत्य का आधार मानकर समस्त मनुष्य व्यापार अथवा सृष्टि की वस्तुपरक नियमबद्ध यथार्थ योजना चाहती है। यद्यपि प्राचीन दार्शनिकों की तरह विज्ञान का अस्वीकार नहीं करता किन्तु उसकी सीमाएं बताता है। विज्ञान अनुभवगम्य जगत् का अध्ययन सफलता से कर सकता है अर्थात् वह तत्त्वास्तित्व का आंशिक वस्तुपरक सत्य (objective reality) प्राप्त कर सकता है। वह वस्तु की समग्रता को नहीं पकड़ सकता। क्योंकि विज्ञान बाह्य अस्तित्व (वस्तु) से अध्ययन शुरू करता है और तज्जन्य निष्कर्षों के आधार पर सामान्यीकरण (generalisation) और सार्वभौमीकरण (universalisation) की प्रक्रिया को अपनाता। फलतः अस्तित्व का आन्तरिक पक्ष (चेतना आदि) का इस दृष्टि से अध्ययन अपूर्ण रहता है। इसके अतिरिक्त विज्ञान की निगमन पद्धति केवल संभाव्य (probable) तक ही पहुँच पाती है। अतः विज्ञान के निष्कर्ष अनेक दोषों से अनिश्चित ही होंगे। इन निष्कर्षों के आधार पर सम्पूर्ण विश्व का कोई सुसंगतियुक्त रूप नहीं बनाया जा सकता। क्योंकि विज्ञान की विभिन्न शाखाएँ स्वतन्त्र सत्यों की उपलब्धि करती हैं। मानवीय जीवन सम्बन्धी विज्ञान शाखाएँ तो वर्णन मात्र हैं और अपूर्ण हैं। इनमें मानव-जीवन की क्रियमाण सत्ता (active existence) के लिए कोई स्थान नहीं है। इस तरह मानव जीवन सम्बन्धी विज्ञान कभी भी पूर्णतः मानव अस्तित्व का वस्तुपरक यथार्थ (objective reality) नहीं पकड़ सकता। विज्ञान

* तत्त्वास्तित्व, स्वास्तित्व और स्वतन्त्र अस्तित्व का विवेचन करते समय अनेक भारतीय दर्शन के जगत, आत्मा और परमात्मा के प्रत्यय मन में जागृत होते हैं। किन्तु इनमें सूक्ष्म अन्तर है जिसका विश्लेषण विविध ज्ञान, विचार और सामर्थ्य का अर्थ ही करता है।

अतिरमा चेतना को उपयुक्त विषय बनाकर अध्ययन करना चाहता है। वह प्रयोगशाला में बंद कर इसका सार या सूत्र (formula) निकालना चाहता है। यह काफी साहसपूर्ण आकांक्षा है जो सदैव आकांक्षा ही रहेगा।

विज्ञान एक स्तर की सार्वभौमता (universality) अवश्य प्राप्त करता है पर वह सृष्टि की एकता और पूर्णता नहीं पा सकता। वह अनुभव जगत तक सीमित है। इसलिए उसे वहां तक सीमित रह कर दार्शनिक दृष्टि से कार्य करना चाहिए। स्पष्ट है कि विज्ञान यदि अपनी सीमाओं को स्वीकार कर लेता है तो वह ज्ञानाभिमुख हो जाएगा। दर्शन और विज्ञान में जो व्यक्त विरोध है वह नष्ट हो जायेगा। और इस प्रकार विज्ञान दर्शन के लिए एक आवश्यक आधार का काम करेगा। चूंकि यास्पर्स विज्ञान के विषय (object) (इसी लोक का) अस्तित्व मानता है इसलिए वह बनानिक तथ्यों और आविष्कारों को उनके सीमित महत्व के साथ स्वीकार करता है। उसके अनुसार ज्ञान विज्ञान से शुरू होता है। फलतः विज्ञान के बिना इसका काम नहीं चल सकता। क्योंकि ज्ञान का सम्बन्ध भी उसी जगत से है जो विज्ञान का कार्य क्षेत्र है। दार्शनिक को भी वस्तुस्थिति की सीमा का अतिक्रमण करना है। अतः उसे जानना है और तत्पश्चात् इस जानकारी का समझते हुए उसे स्वास्तित्व और स्वतन्त्रास्तित्व की ओर प्रयोग करना है। यास्पर्स विज्ञान का स्वीकृति द्वारा ज्ञान की परम्परागत विरुद्ध विचारों का समाधान कर देता है। कार्कगार्ड के समान वह विज्ञान का तिरस्कार नहीं करता और विषयों की भी सत्यपूर्ण नहीं मानता है अर्थात् परम्परागत प्रत्ययवाद (idealism) भी उसे अस्वीकार्य है। दूसरी तरफ वह विज्ञान जनित प्रकृतिवाद (naturalism) और वस्तुवाद (positivism) का भी विरोध करता है। क्योंकि उनमें आत्मा या चेतना की सम्पूर्ण उपेक्षा न हो तो भी उसे विकृत (distort) किया जाता है। इस तरह वह दोनों में एक सन्तुलन स्थापित करता है।

उसकी चेतना के प्रति आसक्ति रखता है स्वास्तित्व है। यहाँ उस नियमबद्धता के स्थान पर स्वतन्त्रता प्राप्त होती है वह पाता है कि उसे प्रतिक्षण चुनाव करना पड़ता है जीवन की अनवरत विभिन्न परिस्थितियों में उसे अपनी राय बनाना पड़ता है और तदनुकूल कार्य करना पड़ता है। इन अवसरों पर मनुष्य 'कुछ नहीं' है किन्तु वह कुछ भी करता है और उसे बनना चाहिए का अनुभूति करता है। यह मनन का निश्चय भी एक बार नहीं होता प्रत्येक क्षण बदलती परिस्थितियों के सन्दर्भ में इसका पुनर्निर्माण किया जाता है। इस तरह चेतना इस कार्य में निरन्तर गतिशील और उत्थान करती हुई रहती है। अर्थात् यह किसी परिस्थिति और निश्चय में बद्ध नहीं रहती। यह पूर्णतः स्वतन्त्र अर्थात् अनन्त है। क्योंकि स्वास्तित्व की चेतना मूल रूप में पूर्ण स्वतन्त्रता और अनन्तता की चेतना ही है। इस चेतना के जाग्रत होने से व्यक्ति को सबसे पहली अनुभूति यह होती है कि मैं केवल शरीर (प्रकृति आदि) नागरिक (राष्ट्र समाज आदि) क्रिया (अनेक विध विधिनिषेधात्मक कार्य आदि) और चरित्र (character) ही नहीं हूँ। मैं स्वतन्त्र हूँ, इनसे बँधा हुआ नहीं हूँ। जब तक यह अनुभूति नहीं होती तब तक व्यक्ति तत्रास्तित्व ही रहता है। यह स्वतन्त्रताजनित आतंक (anguish) और आह्लाद (thrill) उत्पन्न करता है। क्योंकि इससे उसके व्यक्तित्व का ठोस आधार तत्रास्तित्व (being there) पीछे छूट जाता है अर्थात् व्यक्तित्व के सम्मुख एक शून्य का भाव आरम्भ हो जाता है। उसे लगता है कि यह स्वतन्त्रता निज है और यह ही उसका सार (essence) की चेतना है।

जब व्यक्ति इस चेतना के द्वारा निर्णय करता है और प्रतिबद्ध होता है तो उसका यह चुनाव कार्य पूर्ण तरह से अस्तित्वगत और निरपेक्ष होता है। इस चुनाव का कोई भी मनोवैज्ञानिक नैतिक अथवा वैचारिक (Ideal) कारण नहीं दिया जा सकता। यह चुनाव पूर्णतः स्वतन्त्र और किसी अन्य आधार के बिना होता है। इसलिए यास्पर्स इसे स्वयं का स्वयं के प्रति भेंट मानता है। स्पष्ट है कि यास्पर्स इस चेतना व्यापार को—देश काल जाति परिवार मनोवैज्ञानिक स्तर—इन सबसे मुक्त मानता है। वह स्वीकार करता है कि इन सबका चुनाव (choice) व्यक्ति नहीं कर सकता। फिर भी वह इनकी स्वीकृति या अस्वीकृति में स्वतन्त्र चुनाव कर सकता है। इसका अर्थ यह है कि वह इनको चेतना की बाधाओं या सीमाओं के रूप में मानता है। चेतना के कार्य का इनसे संघर्ष होना अवश्यम्भावी है। चेतन

निराशा भी सुनिश्चित है । पर यास्पर्स निराश होकर बैठ जाने अथवा नियतिवादी या भाग्यवादी होने के पक्ष में नहीं है । गंभीर निराशा में ही उनके अनुसार स्वतन्त्रास्तित्व में गया साक्षात्कार होता है । क्योंकि निराशा की स्थिति में ही व्यक्ति एकान्त और आत्मनिर्भर होता है अर्थात् स्वतन्त्र होता है । इस तरह निराशा स्वास्तित्व प्राप्त व्यक्ति की चेतना को बाधती नहीं बल्कि छूती है और उसकी स्वतन्त्र उड़ान के नीचे रह पीछे छूट जाती है ।

इस निराशा से सम्बद्ध वे परिस्थितियाँ हैं जिन्हें यास्पर्स सीमा परिस्थितियाँ (limit situations) कहता है । प्रत्येक व्यक्ति के तथास्तित्वी परिवेश में उसकी स्वतन्त्रता को सीमित करने वाली कुछ सीमा परिस्थितियाँ अनिवार्यतः होती हैं जैसे मृत्यु संघर्ष पाप कठिनता पीड़ा आदि । इनसे असुरक्षा भय निराशा आदि अनेक स्वतन्त्रताबाधक भाव उत्पन्न होते हैं । इनसे पलायन करना या इन्हें ही चरम सत्य अथवा अंतिम सीमा मान लेना अप्रामाणिकता है सीमासवाद या भाग्यवाद है । वस्तुतः ये परिस्थितियाँ । वे सीमारेखाएँ हैं जहाँ पर स्वतन्त्रास्तित्व में साक्षात्कार होता है । अतः यह आवश्यक है कि इनसे पलायन न कर इन्हें समाहृत किया जाय इन्हें जीवन का अंग मानकर आत्मसात् किया जाय । सबसे भयानक परिस्थिति मृत्यु है । मृत्यु और जीवन में विरोध मानना उनको परस्पर संघर्ष स्वीकारना तथास्तित्व के स्तर की वस्तु है । क्योंकि उस स्तर में—बाह्य रूप में—एक क्रिया का समाप्ति मृत्यु द्वारा होता हुआ परिलक्षित होता है । स्वास्तित्व के स्तर पर जिसकी चेतना में इसमें विरोध नहीं रहता बल्कि तथास्तित्व का स्वाभाविक परिणति मृत्यु हो जाती है । मृत्यु के साथ शरीर मरता है किन्तु चेतना की स्वतन्त्रता नहीं मरती उसकी निरन्तरता बनी रहती है । इसी प्रकार यह भी नहीं कि निराशावादी किसी परलोक या किसी अमर आत्मा की कल्पना करता है या चेतना के परम्परागत शाश्वत अमर रूप में विश्वास करता है । उसका मानना कुछ सूक्ष्म है और यह इतना ही है कि चेतना इतनी सजीव कुछ सूक्ष्म कुछ नियम तत्व है जो मरता नहीं है । उनमें कुछ मनुष्य अपने को है जो इस मृत्यु की सीमा रेखा का अतिक्रमण कर जाता है और स्वतन्त्रास्तित्व में समाहित हो जाता है ।

मनुष्य मरता है क्योंकि वह मात्र अपूर्ण और सीमित (finite) है । इस सीमा रेखा के कारण । इन सामाजिक आर्थिक या राजनीतिक संघर्षों में भाग लेना पड़ता है इन्हें बर्दाश्त करना पड़ता है । यह सामाजिक स्तर का

का चुनाव अपराधीभाव (guilt) उत्पन्न करता है। क्योंकि चुनाव करते ही वह बहुतसी अन्य बातों अन्य सम्बन्धों, अन्य रास्तों और अन्य निर्णयों से अलग (exclusion) होता है। इस तरह हर सम्बन्ध (relation) का चुनाव किसी अन्य सम्बन्ध की सम्भावना के मूल्य पर होता है। 'मैं ऐसा भी कर सकता था' अथवा 'मैं ऐसा क्यों नहीं करूं' के तनाव से अपराध भावना उपजती है। यह मनुष्य की स्वतन्त्रता के लिए दूसरी सीमा परिस्थिति है जो चेतना व स्वतन्त्र कार्य को बाधित करती है। यास्पर्स इस अपराध भावना को अनिवार्य मानता है किन्तु इसे अनिवार्य बन्धन नहीं स्वीकार करता। व्यक्ति को अपनी प्रामाणिकता की अर्थात् स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए इस अपराध का उत्तरदायित्व वहन करना चाहिए। साधारणतः लोग दूसरों को या परिस्थितियों को दोष देकर इस अपराध से मुक्त होना चाहते हैं। यह अप्रामाणिक जीवन है। क्योंकि स्वयं द्वारा की बुराई या अपराध को दूसरों के मत्थे मढ़ते ही नहीं उसके निराकरण की जिम्मेदारी भी उन्हीं की मानते हैं। अपराध का उत्तरदायित्व लेते ही अपराध निवारण का कर्त्तव्य भी उसी व्यक्ति का हो जाता है। इस प्रकार स्वतन्त्र-कार्य के लिए अपराध बाधक होगी उद्दीपक है।

मनुष्य की दूसरी सीमा परिस्थिति इस बात पर है जिसे इतिहास (history) कहा जाता है। यास्पर्स के अनुसार अस्तित्व अथवा चेतना इतिहासातीत नहीं है। चूंकि मनुष्य का अस्तित्व सार्वभौम और सार्वकालिक (universal) नहीं है इसलिए वह इतिहासगत या इतिहासबद्ध है। यह इतिहासगतता भी स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए अपराध-भावना आदि के समान आवश्यक है। मनुष्य पूर्णतः तथास्तित्व में स्थित है अतः वह इतिहास निरपेक्ष नहीं हो सकता। एक विशेष देश और एक विशेष काल में जन्मता है और एक विशेष देश और एक विशेष काल में वह मर जाता है। वह इस विषय (अर्थात् इतिहास) से मुक्त नहीं होता किन्तु वह इस विषय में बद्ध भी नहीं होता बल्कि इसे। परिनिष्ठित मनुष्य होकर उसे पाता और सजना के द्वारा उसका निर्माण करता है। इस इतिहास की परिसीमा में तथास्तित्वगत समाज राज्य धर्म व्यक्तिगत सम्बन्ध आदि सब कुछ समाहित है। राज्य के प्रति यास्पर्स के दृष्टिकोण से इस बात को समझा जा सकता है। राज्य व्यक्ति की स्वतन्त्रता के लिए आधारभूत है और साथ ही साथ यह उसकी स्वतन्त्रता का बाधक भी है। राज्य के बन्धन का अतिक्रमण करना साधारण व्यक्ति के लिए बड़ा कठिन कार्य है। क्योंकि राज्य व्यक्तिगत

प्रभुता और शक्ति न होकर व्यक्तियों की सामूहिक इच्छा का प्रतिनिधि होता है। इसके महान् आदर्श होते हैं और इन आदर्शों के अनुसार व्यक्ति के लिए कर्त्तव्यों का विधान भी यह करता है। अत व्यक्ति आमतौर से इन आदर्श कर्त्तव्यों की महानता की मानसिक सीमा (limit) से परे नहीं रह सकता। फिर भी व्यक्ति को स्वतन्त्र रहकर ही इसके उद्देश्यों, आदर्शों और नीतियों की आलोचना करना चाहिए और तत्सम्बद्ध सुझाव देना चाहिए। राज्य का सत्य पूर्व प्राप्त या सर्वोपरि नहीं होता। उस सत्य का निर्माण कहीं न कहीं ज्ञात या अज्ञात रूप में व्यक्ति चेतना ही करती है। इसलिए राज्य के कानून व्यक्तिगत निर्णय को प्रबुद्ध कर सकते हैं उसकी न्याय संगति (justification) नहीं दे सकते और इसी प्रकार वे व्यक्ति के स्वतन्त्र कार्यों का कोई मूल्य या अर्थ न दे। प्रदान करते बल्कि मूल्य और अर्थ की निर्मिति के लिए उद्दीपन मात्र और अवसर दे सकते हैं। फलत राज्य व्यक्ति के लिए अपनी स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए आवश्यक है। राज्य इस स्वामित्व (स्वतन्त्र) सम्पन्न व्यक्ति के निर्णयों से अपना सच्चाई पाता है। इस तरह राज्य और व्यक्ति में उत्पादक तनाव सम्भव रहता है। इसलिए यास्पर्स राजनीति में भाग लेना स्वामित्व के लिए आवश्यक मानता है। आत्म की तानाशाही या समूहवादी राज्य व्यवस्थाओं में तो यह कार्य अनिवार्य है।

ये राजकीय व्यवस्थाएँ व्यक्ति की ऐतिहासिकता के माध्यम हैं। मनुष्य इस प्रकार इतिहास में जीवन सम्बन्धी अर्थ या मूल्य प्राप्त नहीं करता बल्कि अपने कार्यों का मूल्य। ऐतिहासिक क्रम में स्थापित करता है। इस तरह वह मानव जीवन को निरन्तर गति में सहायक होता है। स्पष्ट है यास्पर्स का यह इतिहास वस्तुपरक घटना वर्णन नहीं है और न वह भौतिक और मानव के समान नियतिवादी (deterministic) है। इतिहास वह गतिशील तत्व है जो व्यक्ति चेतना के लिए नव प्रेरणा देता है और उस चेतना के कार्यों द्वारा प्रभावित और परिवर्तित होता रहता है। इस प्रकार वह स्वामित्व का महत्त्व सिद्ध करता है।

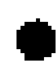
निष्कर्षत यह कहा जा सकता है कि यास्पर्स के स्वामित्व के स्तर में सामाजिक परिस्थितियों के रूप बनने से मना नहीं है। इसमें कला के लिए स्थान है निश्चित कला रूप की व्याख्या नहीं है। कला का कर्म निर्माण या पुनर्गठन का महत्त्वपूर्ण होता है। इसमें न तो रहस्यवादियों (mystics) के समान संसार और

इतिहास (तथ्यनिष्ठत्व) निरपेक्ष निवृत्तिपरक अंतर्मुखता की सचाई में विश्वास करता है और न वस्तुवादी दार्शनिकों की पूर्ण प्रवृत्ति या वस्तुवाद (position) में। वह इन दोनों को अस्तित्ववादी रूप में समन्वित करता है।

•

दूसरे से संबंध विधान या सम्प्रेषण समस्या को सब अस्तित्ववादियों की प्रमुख समस्या रहा है। यह समस्या वैसे तो काफी पुरानी है पर आधुनिक काल में वैज्ञानिक, यांत्रिक, सैद्धांतिक और औद्योगिक उन्नति के कारण यह और भी विकराल हो गई है। व्यक्ति अधिक से अधिक संकीर्ण और कीर्केगार्द की भाषा में स्वबद्ध (shut up) होता जा रहा है। यास्पर्स भी इस समस्या का गंभीरता से विवेचन करता है। उसके अनुसार स्वास्तित्व प्राप्त व्यक्ति का अन्य स्वास्तित्व प्राप्त व्यक्तियों से सम्प्रेषण होना अनिवार्य है। सम्प्रेषण (commu nication) को वह विशेष अर्थ में प्रयुक्त करता है। इस सम्प्रेषण में दोनों की (स्वयं की और दूसरे की) अद्वितीयता और स्वतन्त्रता अप्रभावित रहती है इनकी परस्पर स्वीकृति आवश्यक है। इसी आधार पर दोनों में सम्बन्ध विधान होना चाहिए। यह कैसे सम्भव हो सकता है? यास्पर्स का उत्तर है मैं यह अभिलाषा करता हूँ प्रत्येक दूसरा भी—मैं जो कुछ होना चाहता हूँ—वैसे ही वह भी कुछ पूर्ण ईमानदारी और सच्चाई के साथ होगा। स्पष्ट है कि यहाँ पराधिकार नहीं स्वाधिकार और अन्याधिकार दोनों की पहचान और स्वीकरण आवश्यक है। अतः सम्प्रेषण के लिए रीतिरिवाज धारणाएँ संस्कार मान्यता धर्म आदि के बन्धनों से मुक्ति होनी चाहिए और व्यक्ति को दूसरे के सामने अपने सच्चे स्व रूप में आना चाहिए। व्यक्ति में यह खुलापन (openness) होना सम्प्रेषण के लिए आधारभूत है। इस तरह सम्प्रेषण समाज में सहयोग नहीं है बल्कि एकाकी (singularity) प्रामाणिकता की पहचान और स्वीकृति है। इस तरह यह सम्प्रेषण संघर्ष का रूप ले सकता है पर यह प्रेमपूर्ण संघर्ष (loving struggle) होगा। क्योंकि इस संघर्ष में खुलापन होने के कारण अन्य तामसिक वृत्तियाँ (स्वार्थ आदि) नहीं आ सकेंगी। यह सम्प्रेषण प्रत्येक व्यक्ति के स्वास्तित्व को एक नया और गंभीर रूप देता रहेगा। क्योंकि दूसरे का स्वास्तित्व इसके लिए सुधारक (corre ctive) सिद्ध होगा। यह सम्प्रेषण स्व और अन्य के परिवृत्त में क्रियाशील रहता

है। बुद्धि से सम्प्रेषण नहीं हो सकता। क्योंकि बुद्धि मैं की सत्ता से प्रारम्भ होती है और तू को वस्तुरूप (object) दे देता है। उसकी चेतन सत्ता की अद्वितीयता को अस्वीकृत करने का प्रयास करती है या उसे विकृत (distort) करती है। केवल प्रेम ही जो विस्तार की परम चेतना या भूमा है— इस सम्प्रेषण का आधार हो सकता है। स्पष्ट है कि यह प्रेम सवेदनात्मक या भावुकतापूर्ण नहीं है बल्कि उदारतापूर्ण सद्भाव है।



अब स्वतन्त्रास्तित्व (being in itself) की ओर ध्यान दें। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है स्वतन्त्रास्तित्व की परिभाषा नहीं दी जा सकती उसे जाना नहीं जा सकता। न तो यह वस्तुनिष्ठ ज्ञान की पकड़ में आता है और न आत्मनिष्ठ अनुभव भी उसे छू सकता है। तो फिर उसकी सत्ता का प्रमाण क्या है? यास्पर्स के अनुसार जगत् की अपूर्णता सीमा और क्षण भंगुरता ही स्वतन्त्रास्तित्व (पूर्णता असीमता और शाश्वतता) का प्रमाण है। हम इसी जगत् के माध्यम से उसकी खोज करते हैं। उसे पाने या पकड़ने की चेष्टा निरर्थक है।

यास्पर्स स्वतन्त्रास्तित्व की सत्ता की सिद्धि नेति नेति ढंग से करता है। वस्तुनिष्ठ दृष्टि से हम प्रत्येक वस्तु की सीमा, कारण, गुणमात्रा आदि का विश्लेषण करते हैं और अन्त में पाते हैं कि अन्तिम सत्ता यह नहीं है। निषेध के माध्यम से हम इन सब प्रमेयों (categories) के पूर्व और अतीत रूप का विचार करते हैं अर्थात् अन्तिम सत्ता (स्वतन्त्रास्तित्व) को मानते हैं। इस प्रकार प्रत्येक वस्तुगत धारणा का स्पष्टीकरण कर उसकी कमियों को लक्षित करते हुए हम उसका निषेध करते हैं। परिणामस्वरूप हम स्वतन्त्रास्तित्व की आभा प्राप्त करते हैं। इसका फल यह होता है कि हम तत्रास्तित्व (जिसके माध्यम से स्वतन्त्रास्तित्व प्रकट होता है) और स्वतन्त्रास्तित्व में अन्तर महसूस करने लगते हैं। स्पष्ट है कि यह स्वतन्त्रास्तित्व यद्यपि सब सीमित रूपों से अतीत या अतिक्रमणयुक्त है तो भी यह सीमा स्थितियों के माध्यम से ही से ज्ञात या अनुभूत किया जा सकता है। अनुभव की दृष्टि से यह प्राक् अस्तित्व स्वतन्त्र है जो समस्त अस्तित्व का आधार है। अब अस्तित्वगत द्वन्द्व प्रकाश और अन्धकार विनाश और सृजन शक्तियों का आधार भी यही है। अतः यह आवश्यक है कि दोनों माध्यमों से इसकी खोज की जाय। इन

द्वारा व तनाव को सम्भालने के लिए साहसमयश्रद्धा (courageous faith) या 'तार्किक श्रद्धा' की अनिवार्यता है। *

स्वास्तित्व का इससे क्या सम्बन्ध है? स्वास्तित्व प्राप्त व्यक्ति स्वतन्त्र होता है पर आत्मनिर्भर नहीं होता। वह तत्रास्तित्व (सीमित वस्तु अर्थात् जगत् पर) आश्रित है क्योंकि उसी के माध्यम से उसका स्वास्तित्व जागृत होता है। दूसरी ओर वह स्वतःअस्तित्व पर भी आश्रित है क्योंकि उसकी स्वतन्त्रता का आधार और निर्देश स्वतःअस्तित्व है। इसका यह अर्थ हुआ कि व्यक्ति (स्वास्तित्व) जगत् (तत्रास्तित्व) के माध्यम से ही अन्तिम सत्ता (स्वतःअस्तित्व) से सम्बद्ध हो सकता है। यह जगत् माध्यम कैसे बनता है? यहाँ रहस्यवादियों के सर्वात्मवाद और बौद्धिक वस्तुवाद से बचने और अपने सिद्धान्त को शुद्ध दार्शनिक रूप देने के लिए यास्पर्स बिन्दु या वृत्त (cipher) का उपयोग करता है। जगत् या तत्रास्तित्व या तत्सम्बद्ध तदाश्रित या तन्मय सीमा घटनाएँ स्वतन्त्र चेतना (स्वास्तित्व) के लिए बिन्दुवत् हैं। एक तरफ घटना रूप में स्थूल हैं किन्तु दूसरी तरह प्रतीकात्मक रूप में घटनातीत स्वतःअस्तित्व की ओर संकेत कर रहे होते हैं। व्यक्ति को इन बिन्दुओं का अर्थ लगाना होता है। यह अर्थ बुद्धिगत वस्तुनिष्ठता से नहीं लग सकता क्योंकि बिन्दु का प्रतीक बुद्धिगम्य नहीं है। बिन्दु सामान्य प्रतीक नहीं है वह स्वतः प्रमाणित है। सामान्य प्रतीक किसी दूसरी सामान्य घटना को व्यंजित करता है जिसे अप्रतीकात्मक अर्थात् बौद्धिक रीति से पकड़ा जा सकता है। इसलिए बिन्दु को विज्ञान ज्ञान से नहीं समझा जा सकता। इसका अर्थ केवल स्वतन्त्र निर्णय के माध्यम से ही खोजा जा सकता है। उसमें निहित स्वतःअस्तित्व के सन्देश को सजीव सहजानुभूति (concrete intution) से ही समझा जा सकता है। * ये बिन्दु सब व्यक्तियों के

---

* श्रद्धा का साहसमय या 'तार्किक' विशेषण भावुकता और पूर्वाग्रह की अन्धता की रहितता की ओर संकेत करते हैं। इन्हें सम्भाले रखने के लिए निराशा की स्थिति से गुजरना पड़ता है जो सामान्य श्रद्धा को नष्ट कर सकता है।

* I live with the ciphers I donot understand them but I steep myself in them All their truth lies in the concrete intution which fills them in a manner each time historical

लिए अपना अर्थ देते हैं अर्थात् इनका एकान्त अर्थ होता है। इनके अतिरिक्त बिन्दु चूँकि इतिहासक्रम में घटित होते हैं अतः कोई एक बिन्दु अन्तिम नहीं होता। फलतः एक बिन्दु का अर्थ उसी बिन्दु तक सीमित है। यास्पर्स के इस बिन्दु की परिसीमा में प्रकृति, आधार, इतिहासगतता, व्यक्ति अस्तित्व आदि सब कुछ समाहित है। मेरा जीवन मेरा सबसे बड़ा बिन्दु है। जिसका अर्थ मुझे खोजना है—यही स्वतन्त्रता है। मेरी सफलताएं, निराशा, कार्य, निर्णय सब कुछ बिन्दु हैं जिनमें मैं स्वतन्त्रास्तित्व के अर्थ को छूता हूँ, अनुभव करता हूँ। किन्तु यह अर्थ वस्तुगत (positive) है फलतः स्थिर है। अतः अन्तिम नहीं है।

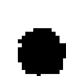
(इस बिन्दु के द्वारा यास्पर्स क्या कहना चाहता है? मेरा अपना अनुमान है कि वह शायद भौतिक, मानसिक, सामाजिक आदि अनेक विध घटनाओं की वस्तुनिष्ठ जानकारी की सम्पूर्णता की असम्भावना बताता है और फलतः उस सम्पूर्णता की प्राप्ति सहजानुभूति के द्वारा वह मानता है। सहजानुभूति चूँकि व्यक्तिगत अनुभूति होती है अतः उसका सार्वभौम बुद्धिग्राह्य अस्तित्व असम्भव है। इसलिए यह सम्पूर्णता व्यक्तिगत ही होती है। घटनाओं के अन्त और विभिन्नता के कारण ये सहजानुभूतियां भी अनेक और असीम (सम्पूर्णता) की सीमित साक्षात्कारिणी मात्र होती हैं।)

अन्तिम बिन्दु यास्पर्स के अनुसार पूर्णतः नकारात्मक (negative) है। अन्तः जलयान विस्फोट है।* सम्भवतः वह ऐसी स्थिति है जहाँ कोई बिन्दु नहीं पाया जाता और ऐसी के मध्य में और मात्र में सब बिन्दु पराजित किये जाते हैं। यह जलयान विस्फोट पूर्णतः निराधार है। अनिश्चित अन्तिम सत्ता (tran cendence) की प्राप्ति के सब परिगम (approaches) टूट जाते हैं। अन्तिम के बुद्धिगम्य रूप को निर्मित करने के सब प्रयत्न घटनाओं में बिखर जाते हैं। और स्वास्तित्वगत सम्भावना स्वयं की विरोधी हो जाती है। धार्मिक जिज्ञासा भी शान्त और शून्य बन जाती है। यह ऐसी स्थिति है जहाँ व्यक्ति का अन्तर टूट जाता है और वह पूर्ण पराजय और निराशा में फंस जाता है। कोई भी दार्शनिक और धार्मिक भी उसकी सहायता नहीं कर सकता। जब मानव कुछ होना चाहता पर कुछ भी नहीं होता—इस

* The ultimate is ship wreck The non being of all that is acce sible to us that non bein which reveals itself in ship-wreck the being of tran cendence

अतीव मरणग्रस्त अस्तित्व की अनुभूति में स्वतन्त्रास्तित्व और उस में अन्तर की अनुभूति जागती है। दूसरे शब्दों में हम स्वतन्त्रास्तित्व या उसकी पूर्णता का अनुभव करते हैं। फलतः हम प्रमाण होता है कि सब सम्भव वस्तुओं का अनस्तित्व (non being) या जो 'जनयान विस्फोट' के क्षण प्रकट (reveal) होता है अतिशयी सत्ता का अस्तित्व है। इस तरह व्यक्ति को स्वतन्त्रास्तित्व से सम्बद्ध होने के लिए जनयान विस्फोट अर्थात् निराशा और दुश्चिन्ता के दौर से गुजरना होता है और साथ ही साथ इस आत्मसत्य श्रद्धा और आशा की सम्भावना पनपती है सब सामाजिक आशाओं का स्खलन होता है सब उसी से मुक्ति पाती होता है, तब व्यक्ति में एक नवीन प्रकार की शक्ति उत्पन्न होती है जिससे हम स्वतन्त्रास्तित्व का अनुभव-समर्थन (affirmation) कर सकते हैं। उसमें स्वतन्त्रास्तित्व है या ईश्वर विश्वास भी उतना है। (यास्पर्स शायद इस युद्ध अनुभवों की स्थिति का अनुभूति द्वारा पद्म सम्पूर्णता की अनुभूति उभरना चाहता है। युद्ध नहीं में की गई कुछ भी अस्थिति का आभास मनोविज्ञान-सम्मत है।)

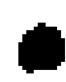
तो क्या व्यक्ति इस 'जनयान विस्फोट' की कामना करे? यास्पर्स फ्रायड की मृत्यु कामना सिद्धान्त' का अस्वीकार करता है। व्यक्ति इस विस्फोट का हटाव या अवसर परिश्रम करता है वह इससे संघर्ष करता है और यह पहचानता भी है कि इससे बचा नहीं जा सकता। काम के समान यास्पर्स भी मानता है कि व्यक्ति स्वयं जीवन मृत्यु आदि की निरर्थकता विनाशशीलता की चालन पूर्ण से व्यस्त (engaged) है।



ऊपर हमने देखा कि व्यक्ति के सब निर्णय या चुनाव की क्रिया क्षणिक होती है। जनयान विस्फोट में न रहना जीवन का एक भाग है। इसलिए आवश्यक है कि हम यास्पर्स के क्षण सम्बद्ध विचारों को भी जानें।* क्षण सामयिक (temporal) और शाश्वत (eternal) का आपस वाला बिन्दु है। इस भावनाओं एतिहासिकता जनमान में आदान-प्रदान नहीं समझना चाहिए। इस व्यक्ति के द्वारा निर्णय शाश्वत अर्थ की उपस्थिति से

* इसमें यह भी स्पष्ट होता कि किस प्रकार साहित्य में अभ्यासवाद द्वारा कितना मनोरंजन होता है अर्थात् वास्तविक आत्मचेतना पर आश्रित है।

भूत और भविष्य को बाधता है। क्षणगत घटनाओं में शाश्वत अर्थ गर्भित नहीं रहता वह निश्चित या निर्णित किया जाता है। इसका अर्थ है कि व्यक्ति क्षणगत निर्णय को क्षण-स्थायी मानकर नहीं लेता बल्कि वह निर्णय शाश्वत और सत्य है इस रूप में लिया जाता है। ऐसा अर्थ में क्षण भूत (घटना या (temporal) और भविष्य (निर्णय या eternal) को जोड़ता है। इस तरह क्षण वह वर्तमान है जो शाश्वत अर्थवत्ता में अर्जित है (present charged with eternal significance)। स्पष्ट है कि यह 'क्षण' प्रवहमान काल के नरंतर्य (continuum) का एक कण है और तत्प्रेरित निर्णय उच्च बिन्दु हैं और एक निरन्तरता का निर्माण करते हैं। फलत ये एक दूसरे से सम्बद्ध हैं एक परम्परा में शृंखलित हैं। इस रूप में ये निर्णय दैनिक जीवन के सम्पूर्ण विस्तार को प्रकाशित करते हैं। इस निर्णय प्रकाश के प्रति सजीव वफादारी अत्यन्त आवश्यक है। उनका अंधानुगमन रूढ़ि है यास्पर्स इस तरह परम्परा को या भूत को त्याज्य नहीं मानता केवल नवीन अनुभव के रस से उसे अनुप्राणित या संस्कृत करना चाहता है। निष्कर्षत क्षण' एकान्त भोग नहीं है बल्कि वह परम्परा का वह बिन्दु है जो नवीन शाश्वत अर्थ की चेतना में परम्परा का पुनर्संस्कार करता है। यह भूत भविष्य विरुद्ध नहीं उनका नयार्थपूर्ण योग है।



यास्पर्स का दर्शन किसी निश्चित सीमा को मानकर नहीं चलता है। उसमें सब प्रकार की विचार धाराओं का सम्मिश्रण है। उसका दर्शन भी स्वतन्त्रास्तित्व के समान सर्वव्यापी (all comprehensive) है। दूसरी विशेषता यह है कि यास्पर्स किसी भी बात को निश्चित नहीं मानता। (यद्यपि अपने समर्थन को सन्निधान के लिए उसने निश्चित सा रूप का विधान किया है।) कोई भी सिद्धान्त या निष्कर्ष उसके लिए अन्तिम नहीं है। इसलिए उसकी आलोचना करते हुए हेनमन (Heinemann) उसे उत्प्लवनशील दार्शनिक (gliding or floating philosopher) की संज्ञा देता है। निश्चितता की प्राप्ति-निश्चित निर्णय या विचार' की सारा-पश्चिमी तार्किक (rational) पद्धति का लक्ष्य है। किन्तु यास्पर्स-ज्ञान में निश्चित मत की अपेक्षा रखना अस्वाभाविक है। यास्पर्स विज्ञान की पश्चाद्भूमि में युद्ध करता है और स्पष्ट कहता है कि ज्ञान का उत्तर प्राप्त करना नहीं 'खोज' करना है। यह

खोज भी व्यक्तिगत स्तर अर्थात् स्वातन्त्र्य धर्म के आधार पर होता है तथा अनुभूति रूप है। इसलिए इसमें निश्चितता के लिए आवश्यक वस्तुपरक सार्वभौमत्व' एवं सर्वसाधारणत्व' खोजना अस्थानीय है उस वस्तु को खोजना है जिसके बारे में हम जानते हैं कि वह वहां नहीं है।

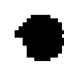
यास्पर्स की प्रमुख समस्याएं सम्प्रेषण और स्वामित्व की रक्षा–आज भी वैसी ही हैं। सम्भवतः उनका रूप उग्रतर हो हुआ है। उस समस्या का समाधान भी–(चूंकि वह पूर्णतः अस्तित्ववादी न होकर आध्यात्मिक–(meta physical) है) भविष्य में कारगर होने की सम्भावना से युक्त है। क्योंकि इसमें धर्म रहस्य विचार समाज विचार, विज्ञान आदि सब को पचा लिया गया है। मेरी दृष्टि में निकट भविष्य में ही यास्पर्स-दर्शन का विकास और प्रचार होना चाहिए, शायद पश्चिम की अपेक्षा पूर्व में इस कार्य के होने की सम्भावना अधिक है।

मार्टिन हेडेगर

(Martin Heidegger)

हेडेगर समकालीन दर्शन का अत्यधिक महत्त्वपूर्ण दार्शनिक है। उसके दर्शन ने साम्यवादी देशों को छोड़कर यूरोप के अधिकांश दार्शनिकों को ही प्रभावित नहीं किया बल्कि लैटिन अमरिका, अमेरिका और जापान के विचारकों को भी किया है। उसका यह प्रभाव दर्शन जगत् तक ही सीमित न रहकर धर्मविद्या (theology) और मनोचिकित्सा विज्ञान तक फैला है। पश्चिम में हेडेगर अपने विशिष्ट धातु मूलक भाषा प्रयोग और इन्द्रियविषयवादी अभिगम के कारण अत्यन्त कठिन, दुरूह और अन्तर्निगमयुक्त दार्शनिक माना जाता रहा है।

हेडेगर का जन्म जर्मनी में हुआ। उसने प्रारम्भ में नामिनलिस्ट दर्शन की शिक्षा प्राप्त की। १९२३ में अपने वक्तृक भाषणों के आधार पर उसे मारबर्ग (Marburg) में दर्शन का आचार्य नियुक्त हुआ। १९२८ में अपने गुरु हुसर्ल की सिफारिश से फ्रीबर्ग (Ireiburg) में उसी पद पर उसकी नियुक्ति हुई। तब से अध्यापन का कार्य करता रहा है। द्वितीय विश्वयुद्ध में नात्सी भावना के समर्थन के कारण युद्धोत्तर सरकार ने उसे विश्वविद्यालय से कुछ समय के लिए हटा दिया गया था।



हेडेगर का भूततत्त्वविद्या (meiaphysics) के विषय में अपना विशिष्ट दृष्टिकोण है। भूततत्त्वविद्या भूतों का विचार भूतों के रूप में ही करती है।

यह विचार प्रतिनिधिक (repre entational) होता है। भूत से सम्बद्ध वैचारिक प्रतिनिधि भूत यह पेश करती है। वस्तु की भौतिक अवस्था में आग को किन्तु उस पर आश्रित उसका प्रत्यय (idea) भी हडेगर की दृष्टि से वस्तु ही है प्रतिनिधिक रूप में। भूतातीतविद्या की यह प्रतिनिधिक दृष्टि भू (being) में मिलता है। अर्थात् भूत में भू (= सत्ता) इस प्रतिनिधि निर्माण का आधार है। यह भू अस्पष्ट और विचारातीत रहता है इसलिए इसका प्रतिनिधि नहीं निर्मित किया जा सकता। यद्यपि पश्चिमी भूतातीतविद्या ने भू * का अध्ययन किया है और इसके प्रत्यय भी बनाये हैं किन्तु भू का सत्य अब तक आवरणित हो रहा है। प्रत्यय बनाते ही भू भूत बन जाता है फलत छिप जाता है और असत्य निरूपण में परिवर्तित हो जाता है। हडेगर के मत में पूरी पश्चिमी भूतातीतविद्या की परम्परा असत्य का निरूपण और भ्रम ज्ञान का विस्तार करती रही है।

हडेगर के अनुसार भूतातीतविद्या आधारतः तत्त्वाश्रित होने के कारण शाश्वत भू को प्रतिनिधिक रीति से विचार नहीं कर सकती। वह वस्तु और वस्तुगत प्रत्ययों के मूलाधार (भू) को नहीं पकड़ सकती। इसलिए भूतातीतविद्या को चाहिए कि वह भू का प्रतिनिधि ढूँढने का प्रयत्न तथा तत्सम्बद्ध प्रश्न का समुचित उत्तर दे सकने की अपनी सामर्थ्य का दंभ छोड़ दे। वह अपने आप भूत तक सीमित रहे। स्पष्ट है कि यहाँ हडेगर भूत से वस्तु और वस्तुगत विचार दोनों को समाविष्ट कर लेता है। इस तरह वह भू से साक्षात्कार के लिए भूतातीतविद्या का अतिक्रमण आवश्यक मानता है। भू का प्रतिनिधि नहीं बनाया जा सकता किन्तु उसे पुनस्मृत (recall) और विचार में पुनः जागृत किया जा सकता है। यह कार्य पारम्परिक भूतातीतविद्या से निर्देशित चिन्तन नहीं कर सकता क्योंकि वह तथ्य अथवा विषय विषयी के दायरे में ही क्रियाशील रहता है और इस प्रक्रिया में फलत प्रतिनिधिक है। हडेगर के अनुसार इसीलिए विज्ञान समाज विज्ञान भूतातीतविद्या आदि ज्ञान के ये सब भाग अपूर्ण हैं और भू का गलत रूप प्रस्तुत करते हैं और मानव को भू से

---

* इस भू की विशिष्ट हडेगरी व्याख्या आगे चर्चित होगा। भूत अर्थात् निश्चित पदार्थरूप अस्तित्व जिसे भू के सन्दर्भ में भूत (beings) कहा गया है। इसकी भी सविस्तार विवेचन आगे होगा।

उसके आधार में विच्छिन्न करते रहते हैं। आज के युग में भू की उपेक्षा और मानव की विच्छिन्नता—यांत्रिकता औद्योगिकता और प्रयावस्थाविज्ञान के कारण—अपने उच्चतम शिखर पर पहुंच चुकी हैं। इसलिए इस भू की पुनस्मृति या पुनर्जागति मानवीय स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

यह भू (being) क्या है? हाइडेगर इसका रूप ग्रीक तत्त्वपूर्व चिन्तकों—विशेषतः परमिनाइडस (Parmenides) और हेराक्लिटस (Heraclitus)—के आधार पर स्थिर करता है। इन लेखकों में भू का जो स्वरूप है वह स्फुरणशील शक्ति का प्राकट्य और प्रकाशित रहने का सामर्थ्य से युक्त है जिसे ग्रीक में प्रकृति (physis) कहा गया है। यह समस्त भूत जगत् (beings) के व्यापार का मूलाधार है किन्तु मात्र भूतगत नहीं है तथा भूत से सीमित या उसके द्वारा समाप्य नहीं है। इसे समझाने के लिए व्याकरण और व्युत्पत्ति का आधार भी लिया गया है। व्याकरण की दृष्टि में जर्मन शब्द (sein=भू) सामान्य (तुमुन्) अपूर्ण (infinitive) क्रिया है अर्थात् कर्त्ता कर्म से मुक्त है और साथ ही साथ कृदन्त भाववाचक संज्ञा (verbal substantive) भी है। इसलिए यह है क्रिया से संयुक्त है। सामान्य होने के कारण इसमें स्वतन्त्रता अबद्धता और अनिश्चितता है और क्रिया होने से यह बद्ध और निश्चित (determinate) भी होता है। है का सत्त्व होना है भू है। होना अनिश्चित है जबकि है निश्चित। किन्तु इस है में भी अनेकविधता है यह सत्त्व सुगाऊ है सीधा और कठोर सपाटपन इसमें नहीं है। अर्थात् इस है में संभावना है कुछ भी हो जाने की शक्ति है जिसे व्याकरण की भाषा में विभक्ति विकार (inflection) के रूप में स्वीकार किया गया है। हाइडेगर कुछ उदाहरणों के द्वारा यह बात स्पष्ट करता है। आम बातचीत की भाषा में हम इस प्रकार के प्रयोग करते हैं—ईश्वर है पृथ्वी है भाषण कक्ष में है गिलास चांदी का है कुत्ता बाग में है क्रमशः कक्षा में है आदि। इन सबमें है के निश्चित किन्तु भिन्नार्थक रूप हैं। यथा—ईश्वर है में ईश्वर वास्तव में विद्यमान है पृथ्वी है में पृथ्वी हमारा अनुभवगम्य रूप में उपस्थित है भाषण कक्ष में है में भाषण कक्ष में होगा गिलास चांदी का है में गिलास चांदी का बना हुआ है कुत्ता बाग में है में कुत्ता बाग में घूम रहा है या दौड़ रहा है क्रमशः कक्षा में है में क्रमशः कक्षा में पढ़ रहा है या पढ़ा रहा है—ये भिन्नार्थ में लिए जाते हैं। इनका अर्थ कम भी ग्रहण किया जाय पर बात स्पष्ट है कि है के भाग

भूं भिन्न भिन्न रूपों में प्रकट होता है।

इस तरह यह निष्कर्ष प्राप्त है कि भू सामान्य (तुमुन्) अपूर्ण क्रिया (infinitive) होने के कारण अनिश्चित अस्पष्ट और स्वतन्त्र है किन्तु साथ ही है से घनिष्ठ सम्बद्ध होने से यह निश्चित बद्ध और स्पष्ट भी है। अतः यह निश्चित अनिश्चित स्पष्ट अस्पष्ट और स्वतन्त्र-परतन्त्र के तत्परक विरोधों को समन्वित किए हुए है।

भू (being) के व्युत्पत्ति विचार में भी कुछ लक्षण स्पष्ट होते हैं। हेडेगर और हमने संस्कृत आदि अनेक योरोपीय भाषाओं के मूल धातु रूपों का इस सन्दर्भ में विचार किया है। हम अपनी भाषा-सामर्थ्य के अनुशासन में केवल संस्कृत शब्द पर ही विचार करेंगे। भू के मूल में भूं धातु है जिसका अर्थ होता है प्रकट होना या आविर्भाव। अस्पष्ट और अनिश्चित कुछ इस शक्ति के रूप आविर्भूत या प्रकट (emerge) होना है। जो प्राणरूप या जीवनसत्त्व (living) है। श्वास सम्बद्ध धातु है अस से आता है वसना निवास करना रहना (dwelling) अर्थात् स्थायित्व (enduring)। अतः भू शक्ति के तीन लक्षण हैं—अस्ति भवति और वसति। अर्थात् प्राणवत्ता आविर्भाव और स्थायित्व। यह प्रधान ग्रीक भू का रूप है। यह ऐसी शक्ति है जो ऊपर आता है उत्तिष्ठ होता है, उत्तिष्ठ रहता है और स्थायित्व-युक्त है। इस प्रक्रिया में स्वयमेव यह शक्ति एक भाषा ग्रहण कर लेता है। यह भाषा बाहर से थोपा गया बन्धन नहीं है बल्कि इसके स्वयम्भूत्व की उच्चतर रूप सम्पूर्ति (fulfillment) है। यह भाषा अन्तर्निहित है। क्योंकि इसका आविर्भाव भाषाकारगत अर्थात् रूपमय (morphe) होता है। फलतः यह वह अरूप प्राणवान शक्ति है जो स्वयम्भू है स्वबद्ध है स्वाश्रित है और स्वचालित है। यह शक्ति ही अन्यतम (concealment) में व्यक्त होता है तब भव का सत् में वस्तु या भूत का आविर्भाव होता है निर्माण होता है। इस आविर्भाव के मूल में शक्तिगत आन्तरिक विग्रह (conflict) है। यह विग्रह तोड़ता नहीं जोड़ता है सर्जन करता है। हम एक अपूर्व उदाहरण में इसे स्पष्ट करने का प्रयत्न करें। बीज में एक शक्ति है जो अव्यक्त है किन्तु जिसमें समाविष्ट पेड़ है। संघर्ष के परिणामस्वरूप शक्ति व्यक्त रूप (=पेड़) को एक भाषा प्राप्त करता है। यह संघर्ष या विग्रह उस बीजगत शक्ति में ही निहित है और इसी के माध्यम से पेड़ की शाखाएं पत्ते मूल भूमि आदि सार्थक या मूर्तित होते हैं।

भू का अन्तरंग गुण है जिसमें वह ... होता है ... प्रकट होता है और भू स्वयमेव विशेषों या भेदों में विभक्त होता है तथा वह स्थिति ... और क्रम में विरचित होता है। जब यह संघर्ष बन्द हो जाता है तो भूत (e sent) नष्ट ... हो जाता किन्तु उसमें से ... चला जाता है। अब निर्मित भूत रूप में अनुमानगम्य वस्तु मात्र रह जाती है। (इसमें ... ... होता।) व्यक्ति ... जैसा उसका उपयोग करे। ... भूत अन्य भूतों के ... और ... में ... जाता है ... वह ... विहीन हो जाता है। फलतः भू ... ... उपस्थिति और ... का ... प्राकट्य (world epiphany) नष्ट हो जाता है। ... भूत वस्तुरूप हो जाते हैं।

भू—... भू—प्राकट्य तथा प्रतीति भू ... विचार और भू—भवनीय ... के ... में ... ... भूत ... स्थापित करता है। भू में आविर्भाव है ... ... भूत रूप में भव (bec oming) है और ... प्राकट्य ... है। भू में ... ... का गुण प्राकट्य ही है जिसमें प्रतीति स्वयमेव निहित है। भू और विचार (thinkin$_{g}$) में ... है क्योंकि मूलतः विचार बोध (apprehension) पर आश्रित है। बोध प्राकट्य का अविभाज्य अंग है। ... के मूल में भू है ... किन्तु ... भवनीय (ou$_{g}$ht) के आदर्श का ... स्वीकार ... क्योंकि आदर्श मूल्यांकन ... है और मूल्य ... ... के साथ ... आत्मनिष्ठता (subj ctivity) आ जाती है तो भू ... का ... कर ... है। ... ... है। भू ... आत्मनिष्ठता और वस्तुनिष्ठता ... विषय और विषय ... है। ... ... है ... ...।

भू ... (con tant presence or standin$_{g}$ presence) है। ... और ... में ... ... अभिव्यक्त रहता है। ... ... है।

... में भू ... ... है जो भूतों में भूतों के ... में भू ... में ... ... है ... ... (unity)

... (w rld) का ... ... और ... (e mot y) के ... में ... ... है। ... ... और ... विचार ...।

होता है। भेद में अभेद भिन्न में अभिन्न अव्यवस्था में व्यवस्था और असूक्ष्मता में सूक्ष्मता उत्पन्न करता है। मनुष्य और भूत का युद्ध करता है। भूत समूह रूप ग्राम (morpho) भू है। इस प्रकार मनुष्य सूक्ष्म स्तर पर भू है भू (भव) में है और भू (भूत=वस्तु=भाव) के साथ है। इसलिए भू का पुनः स्मृति (recall) में स्थूल स्तर का पार करना पड़ता है क्योंकि स्थूल-स्तर अर्थात् भूत या रूप भू को आवरणित रखते हैं। इसलिए भू के इन स्थापित अस्मिता या नकारना (nihilation) उसकी पुनस्मृति के लिए अनिवार्य है।



अब भू के विविध रूपों पर विचार करने की स्थिति में हम हैं। प्रमुखत दो रूप स्पष्ट है —(१) भूत (beings) और (२) भूतत्व (being there)। प्रथम वस्तु जगत् है और दूसरा मानवीय अस्तित्व। हेडेगर के अनुसार अस्तित्व भूतत्व अर्थात् मानव का ही है भूत का नहीं। इसलिए अनिवार्य है कि अस्तित्व क्या है यह समझा जाय। हेडेगर की अस्तित्व की धारणा भी नवीन है जो इस भू से प्रकाशित होता है। अस्तित्व का सम्बन्ध नैतिक और धार्मिक क्षेत्र में नहीं है बल्कि दर्शनगत अतिक्रमण अथवा अनात्मवाद (trans cendence) में है। होना (to exist) वस्तुतः स्व से बाहर भव में होना है (to ex s t=to stand outside) अर्थात् भवस्थ अस्तित्व है। भव या संसार पूर्वप्रदत्त है जिसमें मनुष्य का अस्तित्व सम्पन्न होता है और इस सम्पर्क पर वह आश्रित रहता है। यह भू का वाह्योद्भूत रूप (overtness of being) है अर्थात् सर्वाभिमुख और सर्वाभिमुख फलत भवसीमित। भू में आविर्भाव और प्राकट्य का अतिक्रमणशील शक्ति है। इसी अतिक्रमणशीलता (trans cendence) का प्रकट करती रूप अस्तित्व है। हेडेगर से पूर्व कीर्केगार्ड और यास्पर्स भी अतिक्रमणशीलता को स्वीकार करते हैं किन्तु वे इसे चेतना का गुण मानते हैं जिसके द्वारा व्यक्ति स्वविकास के लिए स्वातन्त्र्य और सामाजिकता का प्रयत्न करता है। हेडेगर इसे चेतना का गुण नहीं मानता बल्कि इस अतिक्रमणशीलता को प्रकृति का मानवीय वास्तविकता के विचार में (मानव के विधान में ही) गम्भीरता से रूप में रचित करता है।

अब स्वाभाविक दूसरा प्रश्न उठता है कि यह वास्तविकता क्या है ? इस क्षेत्र में भी हेडेगर परम्परागत धारणा में परिवर्तन करता है। अरस्तू की

परम्परा मे वास्तविकता को सम्भावना से प्रथम माना गया है।* अर्थात् वास्तविकता के विचार में कुछ समान्य गुण है जो उचित सम्पर्कों में आविर्भूत होते हैं। लेकिन की मान्यता है कि स्वाद गुण के सम्पर्क में उत्पन्न होता है जो स्वाद में प्रथम वस्तु के वास्तविक विधान में ही गर्भित है। इससे स्पष्ट है कि स्वाद की सम्भावना—परवर्ती या गौण गुण है। हेडेगर के अनुसार यह परिभाषा वस्तुजगत् अर्थात् भूत तक ही सीमित है भूतत्व अर्थात् मनुष्य की वास्तविकता पर या भू पर लागू नहीं होती। इसलिए वह नयी परिभाषा देता है कि वास्तविकता सम्भावना द्वारा निर्मित है।÷ अर्थात् वास्तविकता का विधान ही सम्भावित भाव की क्षमता (अतिक्रमण) से निर्मित है सम्भावना के बिना वास्तविकता का विधान ही नहीं होगा। फलतः मनुष्य की वास्तविकता (अस्तित्व) के विधान में भी सम्भावना की क्षमता (अतिक्रमणशीलता) है। यह चेतनात्मक गुण नहीं अस्तित्व की विधानात्मक अनिवार्यता (structural necessity) है।

हेडेगर अपनी पुस्तक (being and time) में कहीं पर भी मनुष्य शब्द का प्रयोग नहीं करता बल्कि भूतत्व (being there) का करता है। भूतत्व अर्थात् भू का तत्रस्थ रूप। तत्र एक शब्द विशेष या स्थान विशेष का अर्थ देता है। दूसरे शब्दों में यह क्षेत्र भू का निवास-स्थान (dwelling) है। इस प्रकार भूतत्व में भू संयुक्त है और साथ ही साथ भूतत्व (मानव) भू के प्राकट्य (openness) में स्थित है। भूतत्व में भ सारतः (essentially) सुगठित है क्योंकि उसका सार उसके अस्तित्व (अतिक्रमणशीलता) में ही निहित है।° यहाँ एक बात ध्यातव्य है कि भू भूतत्व में स्थित होते हुए भी विलक्षण रहता है इसके द्वारा समाप्त नहीं हो जाता और न वह भूतत्व के तद्रूप होता है। भूतत्व का अस्तित्व भू की एक स्थिति (mode) मात्र है।

भूतत्व तत्रस्थ भू है। इस शब्द पर थोड़ा और विचार करें। जर्मन भाषा शब्द का प्रत्ययार्थ है। जर्मन भाषा नाम क्या लगता है? या

---

* Actuality is prior to potentiality

÷ Actuality is constituted by potentiality

° The essence of being there lies in its existence Being and Time

मन है ? यदि यह शरीर ही है तो दूसरा शरीर इन्दिरा गांधी क्यों नहीं है ? यदि शरीर की विशेषता (आकार प्रकार रूप-कुरूप आदि) इन्दिरा गांधी है तो उसी ही दूसरा शरीर यदि हो तो क्या वह इन्दिरा गांधी होगा ? स्पष्ट है कि नाम शरीर का आर मकेत अवश्य करता है पर शरीर नहीं है। तो क्या यह अन्तःकरण है—एक विशेष अन्तःकरण ? अन्तःकरण का नाम इन्दिरा गांधी नहीं हो सकता क्योंकि वह अन्तःकरण के कारण या प्रच्छन्न होने से विशिष्ट सत्ता की सीमा के अज्ञात होता है। नाम वहि का होता है वहि जो स्वयंभाव है। स्पष्ट है कि इन्दिरा गांधी न एकान्तिक रूप से शरीर है और न अन्तःकरण फिर भी इस नाम में दोनों समाहित है। इन दोनों के समाहार में एक क्षेत्रविशेष निर्दिष्ट है। इन्दिरा गांधी का अस्तित्व है जो क्षेत्ररूप है अर्थात् किसी की बेटी है किसी की पत्नी है कहां पर काम करती है कुछ भी हो सकती है आदि आदि। इस अस्तित्व में शरीर (object) और अन्तःकरण (subject) दोनों एकाविन्न है भू-रूप हैं। प्रधानमन्त्रीत्व और भारत भी उसी क्षेत्र की ओर इंगित करते हैं। फलतः भूतत्त्व भू का अभिव्यक्त (overt) रूप है जो क्षेत्र की सीमा में आबद्ध है और भू होने के कारण अतिक्रमणशील प्रकट और आविर्भूत होनेवाला अर्थात् अस्तित्व है। यह अस्तित्व चूंकि शरीर एवं अन्तःकरण से समन्वित है इस लिए नश्वर या अनित्य है। इसलिए नश्वरता या अनित्यता भी भूतत्त्व का निर्माणक तत्त्व है।

भूतत्त्व अर्थात् मनुष्य इस प्रकार भवस्थ (being in the world) है। उसके तीन परस्पर सम्बद्ध रूप हैं—(१) तथ्यता (facticity) (२) अस्तित्वता (existentiality) और (३) च्युति (forfeiture)। ये तीनों प्रकार मनुष्य की मूलभूत सीमित और अनित्य स्थिति में प्रादुर्भूत होते हैं।

प्रथम भव तथ्यता है। मनुष्य भव में रहता है। भव में स्थित भूत वस्तु और अन्य परस्पर सम्बद्ध हैं। जन्म के समय मनुष्य स्वयं को इस भव में पाता है। इसका चुनाव वह स्वयं नहीं करता। इसी भव में वह अपना उद्यम करता है। मनुष्य भव की एकान्तिक वस्तुओं का एक भाग है। फलतः तात्त्विक दृष्टि से कोई भी वस्तु उसका नहीं है मेरा नहीं है। यह भव इस रूप में आकस्मिक (contingent) है इसमें घटित घटनाओं के सधान और उपलब्धियों को इसी आकस्मिक रूप में मनुष्य को स्वीकार करना पड़ता है। यह

मूल्य या मनुष्य की तलना है। मैं अपने मन म-देखता म-रहता हूँ किन्तु यह तब तक मेरा नहीं होगा जब तक कि मैं प्रतिज्ञा (a ert) नहीं करता उसे अपनाता न हूँ। प्रतिज्ञा करते ही यह मन मेरा हो जायगा। म उसम प्राता श्र उसके क म सहित पूर्णत मेरा अपना। स्पष्ट है कि यह मन बना था (साथ ही पर) श्र हैता है तथा हम साधारण भाषा म शेक्सपियर क संसार (World of Shakespeare) म प्रवेश करते है। शेक्सपियर यहाँ बना किस किस का अपना रहता है। उसका मन संसार और उनसे सम्बन्धित मन से प्रकट होता है।

इस मन को अपनाने का नाम मनुष्य अस्तित्वता के द्वारा करता है। मन का यह तभी सम्भव होगा जब वह प्रस्तुत मन और वस्तुओं से आगे बढ़ (inter e) उनका अतिक्रमण (tran cen l) कर और साथ ही साथ स्वयं को भी। तभी वह इस अपना रूप (design) दे सकता है। इस तरह वह स्वयं सविता की ओर अग्रसर होता रहता है। इस गति म वह मन और भविष्य मना (वस्तुओं) को पीछे छोड़ता जाता है उनके इस मन म नई घटनाएँ आ जाती हैं जिनका अनुमान न ही लगाया जा सकता था जिनका पूर्व कथन (prediction) नहीं किया जा सकता। इसका मानव का प्रश्न तथा का अनुमान कर उसम परिवर्तन लाता रहता है। यह अस्तित्वता ही मनुष्य को स्वयं का रचयिता बनाती है और पूर्णता की ओर आविर्भाव (emergence) होता है मनुष्य का काम है।

करता है ? इसके लिए मनुष्य के स्वभाव अस्तित्व विधा (mode of existence) और भूत में उसके सम्बन्धों का विवेचन आवश्यक है।

जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है मनुष्य एक सम्भावना है। वह स्वातीत अग्रिम भू (being in advance of himself) है। इसलिए उसे एकान्त सम्भावनाओं में चुनाव करना पड़ता है और चूंकि यह चुनाव अन्तिम नहीं होता इसलिए यह अनिश्चित है। उसे सतत अतिक्रमणशील रहना पड़ता है। यह अतिक्रमणशीलता पर आधारित सम्भावनाओं का चुनाव भव में ही घटित होता है, अन्यत्र में नहीं। इसलिए उसके अस्तित्व की एक विधा है और उस विधा का एक विधान या ढांचा (structure) भी है—वह है भवस्थ भू (being in the world) अर्थात् भव में उसका अस्तित्व। उसका भू इस भवस्थता के द्वारा निर्मित है। फलतः वह भव के भूतों (beings) से अर्थात् वस्तु और अन्य मनुष्यों से—घनिष्ठतः सम्बद्ध है। वह उनसे निरपेक्ष नहीं रह सकता। भूत-सम्बद्ध कार्य उद्देश्य चिन्ताएं प्रयत्न—ये सब उसके अस्तित्व के आधार हैं। उसका निजी भव उसकी संलग्नता और चिन्ता का भव है निरपेक्ष वस्तुओं का नहीं। इस भव की वस्तुएं मनुष्य के लिए उपयोगी (ready to hand) हैं। ये वस्तुएं भी अपने सम्बन्धों से निर्मित एक भव में स्थित हैं। मेज का कुर्सी से उस पर रखे कागज आदि से सम्बन्ध है। इस प्रकार वस्तु की सत्ता भी उसके सदर्भों और सम्बन्धों से निर्मित है वस्तु का एक अपना संसार है जो मनुष्य (भूतत्र) के सम्मुख प्रकट होता है या मनुष्य उसे प्रकाशित (luminate) करता है। मनुष्य का भव इन सम्बन्धों की व्यवस्था से बद्ध है किन्तु उसका अस्तित्व सम्भावनाओं की ओर अनिवार्यतः प्रेरित और क्रियाशील है। अपनी सम्भाव्य योजनाओं (projects) को परिणत करने के लिए मनुष्य इन वस्तुओं का उपकरण के रूप में प्रयोग करता है। इस तरह प्रदत्त भव को मनुष्य अपनी सामर्थ्य के अस्तित्व के अनुसार पुनर्व्यवस्थित या पुनर्निर्मित करता है अर्थात् भव रचता है। स्पष्ट है कि यह भव वैज्ञानिक अथवा प्रकृतवादी दर्शन के भौतिक भव (physical world) से पूर्णतः भिन्न है। पश्चिम के लिए बिल्कुल नवीन और आश्चर्य पूर्ण है। भारतीय के लिए शायद यह उतना अचरज भरा नहीं है। यहां भव को भव-सागर माना जाता रहा है।

वैज्ञानिक भव की वस्तुओं का प्रत्यक्ष विद्यमान (vorhandene) के रूप में गृहीत करता है जबकि मनुष्य उनको उपकरण के रूप में। इनमें विरोध नहीं

है किन्तु जीवन की दृष्टि से वैज्ञानिक का जगत एकांतिक और जीवन रहित होता है इसलिए तकनीकी और भू की आवरणगत यत्न बाना जाता है।

मनुष्य की इस मनुष्य सत्ता का सम्बन्ध दूसरे व्यक्तियों से भी होता है इसलिए यह दूसरों के साथ (being with others) अथवा सह भू भी है। यह सह भूत भी उसकी सत्ता का निर्माणक तत्त्व है। मनुष्य की सत्ता सामान्य है सहअस्तित्व है फलतः परस्पर आश्रित है। सत्ता का अर्थ है पार्टी प्रजा और राजनीति और पार्टी की सत्ता प्रजा और राजनीति में संयुक्त है। फलतः मनुष्य वस्तुओं का उपयोग ही नहीं करता दूसरे व्यक्तियों में भी संभावना की सम्भूति में सहायता करता है। हेडेगर का मनुष्य विषयीगत (subjective) एकांतिक और यथार्थ से विच्छिन्न नहीं है। वह सब तरह से जीवन के यथार्थ से जुड़ा हुआ है उससे संयुक्त ही नहीं निर्मित भी है। देकार्त का आत्मनिष्ठ चेतना विशिष्ट मैं सोचता हूँ अतः मैं हूँ के एक पृथक मानव के सर्वथा विपरीत हेडेगर। यदि साधारण जन है तो प्रामाणिक बनकर असाधारण होता है। हेडेगर इस प्रकार मनुष्य विचार को धरती पर लाकर खड़ा करता है।

मनुष्य इस प्रकार सम्बद्ध है इसलिए सामाजिक सम्बन्ध उसकी सत्ता के लिए अनिवार्य है। वह इनके उत्तरदायित्व से प्रामाणिक रूप से बच नहीं सकता। जब वह इनसे बचने की कोशिश करता है (जो प्रायः लोग करते हैं) तो वे मनुष्य न रहकर अव्यक्तिगत सत्ता (impersonal one=das man) हो जाता है भू की भूल होता है और समाज प्रचलित और प्रचलित रीति रिवाजों का उपकरण बन जाता है। उसकी मूलभूत संभावनाएं स्थगित हो जाती हैं और वह विषय रूप (objectified) हो जाता है। मनुष्य में उत्तरदायित्व से बचकर इस अप्रामाणिक रूप में परिवर्तित होने की अन्य गुणात्मक वृत्ति है यह उसकी सत्ता की च्युति है। मनुष्य स्वयं की एक वस्तु या संभावना के रूप में समझता है और अतिक्रमण या चुनाव की उपेक्षा करता है। ... वह विश्व में होता है। हेडेगर इस भाव को ही सत्ता का ... मानता है ... मनुष्य भी भूतात्मगत है। किन्तु मनुष्य इस ... की ... (modifies) होता है उसका अतिक्रमण करता है उसे ... ।

... ... के ... में ... का पुनरुत्थान और

नया अर्थ प्रदान करता है—अपनी सम्भावनाओं के सन्दर्भ में उनके अनुरूप। यह अर्थ-ग्रहण विचारित नहीं अस्तित्वपरक होता है। मन का बोध उसे मन में स्वयं के अन्त निधन और सीमितता से उपजता है। इसलिए उसको अपने को प्रयत्न और त्याग से निरन्तरता के साथ इस मन का सामना करना पड़ता है। इस प्रक्रिया में वह अर्थ ग्रहण करता है। इस भाग तथा समर्पित अर्थोपलब्धि के लिए विज्ञान के भौतिक नियमों को भी इस मानवीय सम्भावनाओं के प्रकाश में पुनर्संस्कार करना होता है।

ऐसी परिस्थिति में उसके सामने प्रामाणिक और अप्रामाणिक जीवन के रूप प्रकट होते हैं। अप्रामाणिक जीवन में वह वस्तु (thing) या मूल बन सकता है जबकि प्रामाणिक जीवन अर्थाकार कर वह सच्ची सत्ता—मूल्य को साक्षात्कार कर सकता है। इस स्थिति में चुनाव अनिवार्य है। अप्रामाणिक जीवन में वह स्वाभाविक प्रवृत्ति स्तर पर विचार और कार्य करता रहता है। वह दैनिक सुख दुख में तल्लीन हो जाता है एक बाहरी स्थिति परिस्थिति में शामिल होता हुआ उसी को सुख-दुख सफलता असफलता के लिए उत्तरदायी मानने लगता है। यह सम्पूर्ण जीवन है जो मनुष्य के होने के कारण प्रदर्शन उचित प्रतीत होता है। सब ऐसा करते हैं को गर्जिम्मेदाराना हथियाए अप्रामाणिक जीवन का परिचायक है। हाइडेगर इस बचन मानता है मनुष्य का च्युति मानता है। क्योंकि इसके द्वारा मनुष्य अपनी सत्तागत सम्भावनाओं से वियुक्त हो जाता है और अपने निस्सार अस्तित्व का दास बन जाता है। इस प्रकार वह स्व निर्मित समाज्य सत्य-मूल्य अलग दौड़ रहा होता है।

सत्य से अनिश्चित वस्तु के अगर यह दौर उसमें संत्रास उत्पन्न करती है एक गहरी भावना उपजाता है। वह अपने सत्य और सम्भावना से अलग भागता है, क्योंकि उसे ऐसा महसूस होता है कि उसका यह सत्य ऐसा है जो इसका वस्तुगत स्थिति स्व पकड़ता और सम्पूर्णता सामना का विश्लेषण कर रहा। यह वास्तविक विपत्ति है क्योंकि वह सत्य (सम्भावना) निश्चितता उत्पन्न करता और अनिवार्य (unique) बना है—सम्भावनाएँ सब व्यक्तिगत होता। समूह और वस्तु से टूटने का आधार। उसमें संत्रास उत्पन्न करता है तो दूसरा आर सत्य से च्युत होने की अनुभूति भी इस संत्रास का कारण है। इसलिए संत्रास सामान्य भय नहीं है। भय किसी विशिष्ट वस्तु से उपजता है, जबकि इस संत्रास का कोई निश्चित उत्पादक विषय नहीं होता। यह संत्रास सर्वव्याप्त

और विनाशात्मक विध है। यदि व्यक्ति भयभीत हो जाता है तो वह वस्तु की ओर भागता है वस्तुगत हो जाता है और परिणाम स्वरूप स्व सत्य से विच्छिन्न हो जाता है जबकि वह यदि इसका सामना कर लेता है तो वह स्व सत्य की पुष्टि की ओर उन्मुख हो प्रामाणिक जीवन प्राप्त होता है। यह संत्रास मनुष्य को इस अर्थ में स्वतन्त्र बनाता है। वह भय का साक्षात्कार करता है उसे स्वीकार करने या अस्वीकार करने का चुनाव या निर्णय अनिवार्य है।

मानव अस्तित्व के चिन्ता (orge) भाग के रूप में यह परिस्थिति पूरी तरह लक्षित होती है। भूतत्व (मानव अस्तित्व) स्वतः ही वस्तुतः भूयमान भू है इसलिए भविष्य में सन्निहित होता है। किन्तु साथ ही साथ वह स्व या भूत से सम्बद्ध भी है। चिन्ता में यह तथ्य निहित है। चिन्ता के स्वागत तीन तत्व है। प्रथमतः व्यक्ति की सत्ता स्वातिक्रमण युक्त है वह जो है सो नहीं है बल्कि वह जो होगा सो है अर्थात वह भूत नहीं है भूयमान है सम्भाव्य है। इसलिए स्वरूपतः वह स्वातीत है कुछ नया होने वाला है जो अब नहीं है। उस भविष्य या भव्य के लिए उसकी उपलब्धि के लिए भावना चिन्ता है। दूसरी ओर चिन्ता व्यक्ति की पूर्वप्रदत्त भव में उपस्थिति और भव में स्व सत्य को स्पष्ट बनाने की आकुलता को भी समाहित किए हुए है। और अन्तिम रूप में चिन्ता के द्वारा मनुष्य के भवगत सम्बन्ध और कार्य तज्जन्य प्रमाद या भावना भी लक्षित होती है। इस तरह चिन्ता मनुष्य की वर्तमान भूत और भविष्य की सब क्रियाओं को समेटे हुए है।

अब मनुष्य की व्यक्तिगत सत्ता की सम्भाव्यता को समझना जरूरी है। सम्भाव्यता है' यहां इसलिए यह अनन्त और अपूर्ण है। सान्तता और पूर्णता अप्राप्य ही रहता है। मृत्यु के आगमन से सब सम्भावनाओं का हरण हो जाता है। किन्तु मृत्यु भी तो सम्भावना है। जन्म होता है फलतः मौत आती है। इस संभाव्य मौत का सेवन मनुष्य प्रारम्भ से ही करता है। वस्तुतः मृत्यु उसकी सत्ता में ही समाहित है उसे हटाया नहीं जा सकता। इसे प्रामाणिक रूप में स्वीकार करना आवश्यक है। व्यक्ति मरता है इसका अर्थ है कि मृत्यु एक ऐसी सत्तागत सम्भावना है जो अन्य सम्भावनाओं का हरण ही नहीं करती बल्कि उनकी नश्वरता और अनिश्चितता भी सिद्ध करती है। मनुष्य शून्य (जन्म से पूर्व शून्य है—मनुष्य के लिए) से पैदा होता है और शून्य (मृत्यु) में विलीन हो

जाना है। मृत्यु में जीवन या सत्ता की असत्ता संभव होती है अर्थात् मृत्यु शून्य (nothing) होने की संभावना है जो व्यक्तिगत सत्ता में ही समाहित है। सत्रास की स्थिति में मनुष्य को यह प्रतीत होता है कि वह मर्त्य है, उसका अविभाज्य तिरोभाव (मृत्यु) के लिए है। यह तथ्य उसके दैनिक कार्य-व्यापारों में या व्यक्ति-वगत जीवन-यापन में दबा छिपा रहता है।

मृत्यु मनुष्य को प्रामाणिक जीवन यापन का परिचय ही नहीं करवाती उसे उस जीवन में सक्रिय भी करती है। व्यक्ति सदैव मृत्यु के आभास में रहता है। मौत कभी भी आ सकती है। उसका आना जीवन की सब वस्तुओं-धन श्री राग द्वेष अधिकार वैभव आदि को नश्वर निरर्थक और निराधार बना देगा। इस तरह जीवन में मौत का स्वीकार वस्तुओं को सच्चे रूप में प्रकट करेगा उनका अवमूल्यन करेगा। धन अधिकार राग द्वेष आदि का समूचा मूल्य नष्ट हो जायगा उनकी निरर्थकता असत्यता अस्थिरता नश्वरता के प्राकट्य से उनकी व्यक्ति की दृष्टि में कीमत भी घट जायगी। ऐसी मौत को व्यक्ति या तो स्वीकार कर या भुलाये—यह चुनाव उसे करना है। सामान्यतः समूह-व्यक्ति इसे भुलाता है अप्रामाणिक जीवन का चुनाव करता है और भ्रमों में अनस्तित्व में जीता है। मृत्यु का चुनाव उसको मनुष्य को दैनिक जीवन के प्रति पराङ्मुख विरक्त या उदासीन नहीं बनायगा बल्कि उसमें एक तटस्थ भाव या स्थितप्रज्ञता उत्पन्न करेगा जिससे वह दैनिक जीवन के व्यापारों से ठगा नहीं जायगा और स्व को तद्रूप नहीं करेगा। वह सीमित सार्थकता के साथ उन्हें स्वीकार करेगा। इस तादात्म्य में उसके जीवन में आत्मशांति सद्भाव और सहिष्णुता उत्पन्न होगा। (मृत्यु का सम्बन्ध नास्तित्व से है उसका विवेचन आगे होगा।)

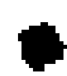
जीवन की इस प्रामाणिकता का प्रेरित करने वाली शक्ति व्यक्ति की सत्ता में ही स्थित अन्तःकरण (conscience) है जो चुनाव के लिए बाध्य करता है और उसके व्यवहार का मूल्यांकन करता है। यह अप्रामाणिक होने पर उसे धिक्कारता है जबकि प्रामाणिक बनाकर उसे नश्वरता को पहचानने और उस में रहने की अनिवार्यता उद्घाटित करता है। यह अन्तःकरण पूर्व चर्चित चिन्ता के विधान में ही है। यह समाश्रय भू है जो संभव (निमित्त) भू (दैनिक भूत जगत से तद्रूप) का उद्बोधन करता है। इस भू की प्रेरणा से मनुष्य (मूलतः) अपनी संभावित नश्वरता को स्वीकार करता है। नश्वरता के साथ (अपूर्णता)

सार्त्र ने दर्शन का समाजपरक प ा अ य (other) की धारणा पर आधारित है। हीगल आदि के परम्परागत दर्शन में अ य को बोध का एक विषय (object of perception) समझा जाता रहा है विषयी नहीं। सार्त्र इस प्रतिगत सन्दर्भ में स्थित करता है और इसे विषयी (subject) भी मानता है। चेतनाओं की अनेकता सार्त्र दर्शन में स्वीकृत हुई है। इसलिए अन्य चेतना की सत्ता सत्ताविद्यागत (ontological) है। अन्य व्यक्ति स्वय एक अपने व्यक्तिगत और आन्तरिक विश्व का निर्माण करता है जिससे मेरे विश्व का खण्डन होता है। वह मेरे विश्व को चुरा लेता है फिर भी मेरे वि व का विषय रहता है। सार्त्र इसे मेरे विश्व में एक छेद कहता है। अ य मेरी ओर देखता है। इसी देखने के द्वारा स्वय को मेरे विरुद्ध एक विषयी के रूप में निर्मित कर लेता है। तथा मुझे वह विषय बना लेता है। फलत लज्जा (shame) व्यक्ति में अन्य के द्वारा ही उत्पन्न होती है। वह अपनी दृष्टि (look) के माध्यम से मेरा अतिक्रमण करता है अर्थात् उसकी सभावनाए मेरी सभावनाओं के पार जाती हैं। इस तरह स्वय अन्य के द्वारा मेरा अवरोध होता रहता है मैं अपनी परिस्थिति का स्वामी नहीं रहता। अन्य की दृष्टि मुझे उसके ससार या देश (space) में व्यवस्थित करती है स्थित करती है। इसके अतिरिक्त वह मुझे काल से भी बाधती है। मैं उसकी चेतना में बद्ध हो जाता हू। उस क्षण मैं उसका दास हू जिसका परिणाम यह होता है कि ल जा घमण्ड अलगाव आदि के मानसिक भावों के द्वारा मैं उसकी चेतना या दृष्टि के प्रति प्रतिक्रिया करता हू। इन भावों की यदि म जागति अन्य की सत्ता को प्रमाणित करती है। अ य इतना विविधरूपी है कि उससे मेरे सम्बन्धों को निश्चित धारणाओं में नहीं बाधा जा सकता।

अन्य के भान से चेतना में दो प्रकार के दृष्टिकोण पैदा होते हैं। या तो मैं जिस रूप में मैं स्वय को जानता हू उसी प्रकृत रूप में स्वय को समझू या जिस रूप में मैं अन्य के द्वारा जाना जाता हू उस परजात रूप में स्वय को मान लू। पहले में विषयी और दूसरे में मैं विषय बन जाता हू। इसका फल यह होता है कि मुझमें मानसिक तनाव क्षोभ और भय उत्पन्न होते हैं। यह अन्य अनात्म अस्तित्व है। मेरे अस्तित्व के लिए यह आधारभूत नहीं है पर य है अवश्य। इसलिए अनिवार्य है कि मेरी चेतना का इसमें मैं अन्य नहीं

हूँ का नकारात्मक सम्बन्ध स्थापित हो। यह नकारात्मक सम्बन्ध परस्पर ज्ञान के कारण विशिष्ट है। वस्तु और चेतना के नकार में परस्परता नहीं है जबकि अन्य चूँकि चेतन है भी मेरा नकार करता है। मेरी चेतना में द्वैत उत्पन्न होता है जो एक दूसरे का मुकाबला करते रहते हैं। अन्य मेरी चेतना कार्य को इस रूप में सीमित करता है। चेतना अन्य तक पूरी तरह से नहीं पहुँच सकती और न अन्य की चेतना मुझ तक पूर्णतः आ पाती है। इस तरह अन्य से सद्भाव या सह अस्तित्व का सम्बन्ध असंभव हो जाता है। अन्य मेरी संभावनाओं के अतिक्रमण के द्वारा मेरी स्वतन्त्रता का हनन करता है। मैं अपनी अतिक्रमणता या स्वतन्त्रता को फिर से विजित करता हूँ तो अन्य से द्वेष का सम्बन्ध स्थापित होता है। युद्ध क्षेत्र में सिपाही यही प्रयत्न करता है। अन्य का भय उसे पीड़ा देता है वह उसकी संभावना अर्थात् शरीर का नाश जानता। इसलिए अपनी संभावना की सदा स्थापना करता है। स्वयं विषयी बनने का प्रयत्न करता है।

वास्तव में अन्य मूर्त चेतना या विषयीत्व (concrete subjectivity) है। यह इस रूप में अनुपस्थित-उपस्थित है। मैं उसे विषय ही रखना चाहता हूँ अर्थात उसकी चेतना को अनुपस्थित करता हूँ जबकि वह चेतना युक्त है इसलिए उपस्थित है। इसके अतिरिक्त वह शारीरिक अनुपस्थिति के द्वारा भी उपस्थित है। उसकी उपस्थिति अपरिहार्य है। क्योंकि इसकी सत्ता चेतना से ही शारीरिक स्तर पर स्थित है। यह तर्कगम्य न होकर अनुभूति गम्य है।



अन्य की उपस्थिति अलगाव को और भी सघन और अन्तः क्षेत्रीय बनाती है। अन्य मुझे शरीर के माध्यम से देखता है अर्थात् चेतना से मेरा शरीर दो रूपों में प्रकट होता है –(१) शरीर जो अन्य के द्वारा जाना जाता है–परार्थ है और (२) वह शरीर जो मेरे लिए है– स्वार्थ है। अब इन दोनों में अलग भावना पैदा होती है। इस प्रकार चेतना में विभाजन या खण्डन जन्म लेता है। शरीर से चेतना अलग होता ही है चेतना में भी अलगाव उत्पन्न होता है जबकि अन्य रहित चेतना में चेतना और शरीर में अलगाव नहीं होता ऐसी स्थिति रहती है। अन्य के उपस्थित होने से इस शरीर-सम्बद्ध चेतना के तीन रूप बन जाते हैं जो एक साथ उपस्थित रहते हैं जिसमें कोई क्रम या व्यवस्था नहीं है।

अन्य का विषय है ऐसा प्रतीति होती है। मैं अपने शरीर को अन्य की दृष्टि से देखने लगता हूँ। कोई कहे कि तुम्हारी आँखें कितनी खराब हैं, इसके प्रभाव से मैं अपनी आँखों को खराब समझूँ और शर्म से नीचे देखने लगूँ तो मैं दूसरे की दृष्टि से अपने शरीर को देख रहा हूँ। इसका अर्थ हुआ कि चेतना और शरीर का अलगाव होता है और शरीर मेरी चेतना का ठीक उसी रूप में विषय बन जाता है जिस रूप में वह अन्य के लिए है।

स्पष्ट है कि सार्त्र के दर्शन में यह अन्य बड़ा विघटनकारी अस्तित्व है। इसलिए इससे शान्तिपूर्ण सद्भावमय सम्बन्ध का निर्वाह कठिन है। सार्त्र धार्मिक भाषा का प्रयोग करते हुए कहता है कि अन्य मेरा मूल पाप है अर्थात् इसकी उपस्थिति सदैव पीडादायक अपराधजनक और शर्मनाक है लेकिन इससे कोई बचाव भी नहीं है। अन्य के लिए मैं जैसा हूँ हूँ। वह मुझे पूर्ण बनाता है अर्थात् मेरी सम्भावना को बढ़ कर मेरा अतिक्रमण करता है। मेरी स्वतन्त्रता भी उसके लिए वस्तु के समान प्रदत्त है। वह सदैव मेरे मूल स्वरूप अर्थात् मेरी गतियुक्त चेतना को जड़ विषय में बदलता रहता है। इसलिए उसकी उपस्थिति मुझे में या तो प्रेम के द्वारा उसकी स्वतन्त्रता जीतने की इच्छा उत्पन्न करती है या कामेच्छा (desire) के द्वारा उसका शरीर विजित करने का जोश उपजाती है। इस कामेच्छा का प्रतिफलन घृणा (hate) में हो जाता है।

अन्य से प्रेम का सम्बन्ध असफल होता है। यह असफलता क्यों है कैसे है? इसे समझने के लिए सार्त्र की प्रेम की धारणा का विवेचन आवश्यक है। प्रेम उन अनेक युक्तियों (projects) का समाहार है जिसके द्वारा मैं अन्य को चेतन विषय (conscious object) के असम्भव रूप में विजित करना चाहता हूँ। प्रेम अन्य की चेतना या स्वतन्त्रता को हस्तगत करना चाहता है किन्तु वह यह नहीं चाहता कि अन्य एक भौतिक तथ्य या वस्तु के रूप में उसे प्राप्त हो। वह चेतनायुक्त अन्य को चेतनायुक्त वस्तु बनाना चाहता है और यह असम्भव है। इसलिए प्रेम विरोधगर्भ है। प्रेमी और प्रेमिका परस्पर चेतन अन्य हैं। एकता स्थापित करने का प्रयत्न प्रेम है। यह प्रयत्न प्रायः दो रूप धारण करता है। प्रेमी प्रेमिका के लिए विषय है इसलिए वह प्रेमिका की इच्छा के अनुरूप अपनी चेतना की अवहेलना करते हुए—बनने की चेष्टा करता है। इस प्रकार अपनी स्वतन्त्रता का हनन करता है और प्रेमिका की

दृष्टि से स्वयं को देखता हुआ विषय बनने का प्रयत्न करता है जिससे आत्मविलीन होकर प्रेमिका उससे एक हो जाय। इसी प्रकार का वस्तु बनने का प्रयत्न प्रेमिका भी अपनी ओर से करती है। स्पष्ट है कि एकता स्थापित करने की यह क्रिया अर्थात् प्रेम असफल होगा। क्योंकि दोनों अपनी चेतनाओं को कभी भी नहीं हटा सकेंगे यह असम्भव है। इसके अतिरिक्त जब भी प्रेमिका को यह आभास हो जायगा कि उसका प्रेमी एक जडवस्तु मात्र है उसका आकर्षण समाप्त हो जायेगा। फलतः प्रेम असफल होगा। इस असफलता से बचने का प्रयास स्वपीडन वृत्ति (masochism) है। प्रेमिका से एक होने की लालसा में प्रेमी अपनी स्वतन्त्रता जो उसमें संघर्ष (conflict) का कारण हो सकती है को तिलांजली देने का प्रयत्न करता है जडवस्तु बनना चाहता है। यह असंभव है। इसलिए प्रेम असफल है अन्य से सामंजस्य अशक्य है। फिर भी प्रेम एक प्रिय भ्रम होने के लिए सत्य है। इसलिए मनुष्य जीवन प्रारम्भ से ही इसके वृत्त में घूमता रहा है।

परपीडन वृत्ति (sadism) के द्वारा अन्य को विजित करने का प्रयत्न प्रेम में अन्य की स्वतन्त्रता विजय की असंभावना के बोध से शुरू होता है। जब मैं अन्य की स्वतन्त्रता को प्रेम के द्वारा नहीं विजित कर सकता तो मैं अपनी स्वतन्त्रता के सबल प्रयोग से उसे विजित करता हूँ। अर्थात् अन्य को अपनी दृष्टि में केवल वस्तु में परिवर्तित कर देना चाहता हूँ। इस प्रकार उसके विषयीभाव (subjectivity) को नष्ट भ्रष्ट कर अपने विषयीभाव की प्रतिष्ठा करता हूँ। पर यह अन्य पर विजय नहीं होता उसके प्रति उदासीनता (indifference) में परिणत हो जाती है। मेरा विषयीभाव या स्वतन्त्रता मेरे लिए दुःख का कारण हो जाता है। अकेलेपन का बोझ मुझे ग्रस्त कर लेता है। क्योंकि मुझमें इच्छा है। इच्छा अभाव से उपजती है और किसी स्वबाह्य विषय के लिए होती है। इसलिए अन्य की उपस्थिति मेरी सुख कल्पना के लिए अनिवार्य है। यह दूसरी बात है कि साथ के मैं की यह कल्पना कभी पूर्ण नहीं होती। कामेच्छा (sexual desire) से अन्य से सुसम्बद्ध होने का प्रयत्न मैं करूँ तो भी असफलता ही मिलेगी। पुरुष में नारी की इच्छा उसके शरीर के प्रति ही जाग्रत नहीं रहती उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व के प्रति जागती है। किन्तु कामेच्छा में चेतना को शरीर में तन्मय करने की प्रवृत्ति होती है। कामातुर व्यक्ति वस्तु रूप हो जाता है स्वतन्त्र चेतना नहीं रहता। इसलिए

चेतना के अभाव में अन्य से सम्बन्ध हो ही नहीं सकता।

कामेच्छा में भी अन्य उपस्थित है। कामेच्छा अन्य को केवल शरीर के रूप में जीवित रखने का प्रयत्न ही है। आलिंगन, लाड़-दुलार (caress) आदि अन्य को मात्र शरीर की सत्ता की अनुभूति कराने का प्रयास है। 'अन्य इनके माध्यम से स्वयं के लिए और मेरे लिए भी शरीर (flesh) मात्र रहे। अन्य को स्व शरीर का भान मेरे शरीर के द्वारा ही होता है। फलत कामेच्छा में शरीरों का सम्बन्ध निर्मित होता है चेतन और चेतन का नहीं। यह कामेच्छा का सम्बन्ध व्यक्ति का अन्य से आदिम सम्बन्ध है। मैं इससे अपनी स्वतन्त्रता का हनन करता हूँ और अपनी चेतना या सम्भावना को शरीर रूप बना देता हूँ इस आशा में कि अन्य भी ऐसा ही करेगा। अन्य ऐसा न करे तो यह प्रयत्न भी निष्फल होता है। पर यदि वह ऐसा कर ले तो भी सम्बन्ध की असफलता से नहीं बचा जा सकता। क्योंकि सम्भोग में कामेच्छा की पूर्ण तृप्ति हो नहीं होती, उसकी चरमावस्था में अन्य की विस्मृति भी उत्पन्न होती है। इसलिए सम्बन्ध कैसा? इसके अतिरिक्त कामेच्छा के विकार (disturbance) के पलायन के पश्चात् 'अन्य' फिर या तो एक सामान्य विषय (ordinary object) बन जाता है या मुझे विषय बनाकर विषयी (subject) हो जाता है।

कभी कभी व्यक्ति अन्य के इस शरीर पलायन को रोकने के लिए परपीड़ा (sadism) का आधार लेता है। परपीड़क व्यक्ति स्वयं विषय अर्थात् शरीर नहीं बन सकता इसलिए वह 'अन्य' को—अपने शरीर को उपकरण (tool) बनाकर—शक्ति से स्वतन्त्रतारहित शरीर बनाना चाहता है। पीड़ा के द्वारा उसे शरीर की अनुभूति करवाता है और उसकी स्वतन्त्रता को विस्मृत करवाने का प्रयत्न करता है। स्पष्ट है कि यह रास्ता भी निरर्थक सिद्ध होगा। क्योंकि परपीड़ा के शिकार अन्य का समर्पण कभी स्थायी सम्पूर्ण और स्पष्ट नहीं होता। कभी भी वह अपनी स्वतन्त्रता को छीन सकता है।

स्पष्ट है कि सार्त्र की दृष्टि में व्यक्तिगत सम्बन्ध असफल होने के लिए हैं। सामञ्जस्य या शान्तिपूर्ण सद्भाव प्राय असम्भव है। इसका मूल कारण यह प्रतीत होता है कि सार्त्र सम्बन्ध चेतना की अपनी मूल धारणा (जिसमें नकार और अतिक्रमण ही हैं विधिपरक कुछ भी नहीं है) से प्रतिगात होकर ही विवेचन करता है। अन्य हमेशा उसके लिए चुनौती के रूप में ही आता है

द्व-द की सृष्टि म । अन्य चेतना है विषयी है और मैं भी वैसा ही हू । इसलिए मेरा या उसका प्रत्येक कार्य—चाहे वह लडना हो या उपहार देना—मेरे या उसके लिए दर्पदमन या दीनता (humiliation) ही साबित होता है । अन्य मेरी सीमा है मैं अन्य की सीमा हू । इसलिए कभी कभी इस सीमा को तोड़ करने की प्रवृत्ति घृणा (hate) भी उत्पन्न करती है । घृणा अन्य की उपस्थिति से स्वय को स्वतन्त्र करने का प्रयास है जिससे मेरा अलगाव सर्जित होता है । किन्तु यह घृणा फिर विशिष्ट अन्य तक ही सीमित नहीं रहती चेतना की सर्वतोमुखी स्वतन्त्रता पर आश्रित होने के कारण सर्वघृणा म परिवर्तित हो जाती है । घृणा भी असफल होती है क्योंकि अन्य की सत्ता नष्ट नहीं हो जाती ज्यो की त्यो रहती है ।

इस प्रकार सार्त्र का मानवीय जगत् द्व-द्व अलगाव अशान्ति द्वेष सघर्ष हीनता पीडा निराशा असफलता आदि के नकारो से भरा पडा है । अब प्रश्न उठता है कि इस एकान्त विच्छिन्न मैं से समाज कैसे बनता है ? या सामाजिक सम्बन्धो के सदर्भ म इस मैं की क्या स्थिति है ? सार्त्र चेतनाओं की अनेकता को स्वीकार करता है ।* अर्थात् मैं अनेक हैं । क्या ये मैं सब अलग अलग असम्पृक्त अवस्था म है या रहते हैं ? सार्त्र का उत्तर है कि ये किसी समूह क्रिया (collective) द्वारा जुडे हुए भी हैं । मतलब इनका समूहगत अस्तित्व भी है । इस अस्तित्व को वह दो रूपो म देखता है—

(१) विषयरूप हम (Us object)—जब मैं और अन्य का सम्पर्क या सघर्ष होता रहता है तब यदि कोई तीसरा व्यक्ति आकर हम देखता है तो मैं और अन्य दोनो इस तीसरे के विश्व म विषय हो जाते ह । इस तृतीय के द्वारा मेरी और अन्य की सभावना का रोका जाना परखा और नकारा जाता है । इसम मैं और तुम (अर्थात् अन्य) एक हो जाते हैं विषयपरक समानता पैदा होती है । इस सार्त्र इस विषय की सामूहिकता कहता है जो अपमानकारी पुरुषत्वहीनता की अनुभूति और विच्छेद भाव को पैदा करती है । इस अनुभूति के लिए तीसरे की भौतिक उपस्थिति अनिवार्य नहीं है उसका भान ही पर्याप्त है । इसमें शासित और शासक का वर्ग सघर्ष उभरता है । बुर्जुआ वर्ग यह तृतीय सत्ता है । शासित का स्वातन्त्र्य इस विषय से इस बदला हो जाता है । इसम भी व्यक्तिगत सम्बन्धो म प्रायः प्रेम घृणा स्वपीडा आदि की भावनाए विद्यमान रहती है ।

---

*इसका कारण बुद्धिगम्य कारण उसके दर्शन म अप्राप्य है ।

नेता भी वह तृतीय पुरुष है। स्वयं मन तृतीय रहता है अर्थात् विषयी हो रहता है।

(२) विषयीरूप हम (We subject)—सार्त्र विषयीरूप हम को केवल मनोवैज्ञानिक सत्ता मानता है जो केवल अनुभव मात्र है। इसकी सृष्टिविज्ञानगत स्थिति नहीं है। उत्पादित वस्तुओं के समक्ष उनके उपभोक्ता होने के कारण हम विषयी हैं। इसी प्रकार कक्षा वर्ग जाति आदि विषयी हमों के उदाहरण हैं। ब्राह्मणों ने शूद्रों का शोषण किया, ये ब्राह्मण विषयीहम के प्रतिनिधि हैं।

संक्षेप में कहें तो सार्त्र व्यक्ति को व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध में सहजीवी न मानकर संघर्ष-जीवी मानता है। व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध का सामान्यीकरण भी सामाजिक सम्बन्ध में देखता है। यहाँ भी वह मैं की सत्ता को भूलता नहीं। क्योंकि विषय हम की भावना क्षणिक है तथा तृतीय के भय पर आश्रित है। भय दूर होते ही फिर मैं और तुम का संघर्ष प्रारम्भ हो जाता है। इसके अतिरिक्त विषय-हम की एकता में वह पुरुषत्व हीनता रखता है जबकि मार्क्सवाद, जिससे वह प्रारम्भ में सम्बद्ध रह चुका था, इसे अजेय शक्ति मानता है। सार्त्र का यह विचार पूर्णतः व्यक्तिगत परिस्थिति और अनुभव से उद्भूत हुआ है। जर्मन आक्रमण का प्रतिरोध करने वाले कुछ व्यक्ति और के साक्षात्कार के समय यदि शक्तिहीनता या संशय की बात करें तो उसकी अनुभूतिगत प्रामाणिकता समझ में आती है। किन्तु दर्शन की वस्तुपरकता में उससे विकार पैदा होता है। अस्तित्ववाद इस रूप में केवल व्यक्तिगत दर्शन बन कर रह जाता है।



व्यक्तिगत परिस्थिति की प्रतिक्रिया का दूसरा परिणाम सार्त्र की चरम स्वतन्त्रता की धारणा है जो [illegible] प्रक्रिया—विशेषतः साहित्य धारा—में अत्यधिक लोकप्रिय एवं प्रचलित है और बहुत ही गलत समझी गयी है। इस चरम स्वतन्त्रता के दार्शनिक रूप को सामान्यतः प्रचलित स्वतन्त्रता से भिन्न समझना चाहिए। स्वतन्त्रता की प्रचलित धारणा यह है कि व्यक्ति जो भी चाहे उसे प्राप्त करे अर्थात् उसे अपनी इच्छा पूर्ण करने का सुयोग मिले। कोई व्यक्ति एक लाख रुपये पाने की कामना करे और उसे उसी समय मिल जायें। इसे ही वह व्यक्ति परम स्वतन्त्रता मानता है। दार्शनिक चरम स्वतन्त्रता

म कामना पूर्ति नही होती स्वय का निमाण होता है चुनाव या वरण होता है जो काफी कठिन काय है। सार्त्र इस धारणा को काय (action) मे सयुक्त करके देखता है। इसलिए स्वतन्त्रता म पहले काय क्या है ? इसे समझें। बिना आशय (intention) की क्रिया काय नही है। एक तम्बाकू पीनेवाला यदि गलती से किसी घर म आग लगा दे तो उसे काय नही कहा जा सकता। अत काय म आशय होना अनिवाय है। आशय म अभाव की सहजानुभूति अन्तर्गभित है पूर्ण म आशय की स्थिति असम्भव है। आशय म कोई वस्तु नही है की अनुभूति और ऐसा होना चाहिए की लालसा होती है। फलत आशय म चेतना का भूत स मुक्त होने यथास्थिति से बिछुडने और समाधान की ओर गतिशील बनने की शाश्वत सम्भावना निहित है। चेतना की यह नकारी क्रिया और एक उद्देश्य या प्रयोजन की प्रतिस्थापना की सम्भावना ही स्वतन्त्रता है। अर्थात् स्वतन्त्रता चेतना की वह शक्ति है जिसके द्वारा वह काय के आधार पर भूत और यथास्थिति स मुक्ति प्राप्त करता है और स्वतन्त्र रूप म उद्देश्यो और प्रयोजनो का निर्माण करता है। लेकिन एक बात और विचारणीय है कि य उद्देश्य और प्रयोजन अंतिम या स्थिर नही होते *सदैव नवनिर्मित होते रहते हैं। क्योकि स्वतन्त्रता अपनी निर्मिति स भी बद्ध* नही होती उसका भी वह नकार करता है। चूंकि चेतना सदैव निर्माणाधीन है कभी भी निर्मित नही होती फलत स्वतन्त्रता भी अनवरत गतिशील सजन प्रक्रिया है।

सार्त्र इस स्वतन्त्रता के लिए कोई सीमा मर्यादा या बधन स्वीकार नही करता है। वह नकार पर आश्रित है इसलिए पूर्ण स्वतन्त्र है। बधन तो सकार के कारण उत्पन्न होता है। यहा केवल स्व अ य म प्रतिबद्धता आ जाती है जबकि ना म अन्य म स्व का सकोच होता है अन्य की अवहेलना होती है और स्व की स्वतन्त्रता की उपलब्धि भी। इसी आधार पर सार्त्र नियतिवादी (deterministic) दर्शनो का विरोध करता है। नियति म उद्देश्य पूर्वनिश्चित या वस्तुरूप हो जाते हैं। अर्थात् इन उद्देश्यो के दबाव और प्रभाव के कारण चेतना स्वतन्त्रता और मानवीय यथार्थ को भुला देता है। मानवीय यथार्थ चेतनात्मक होने के कारण स्वतन्त्र होता है। फलत नियतिवाद निरर्थक भ्रम है। स्वतन्त्रता की सीमा तथा अवरोध भी स्वतन्त्रता ही है जिसमे उसका सकार का सम्बन्ध स्थापित होता है। सार्त्र इस स्वतन्त्रता को

के अनुसार मृत्यु का मूलभूत गुण उसकी निरर्थकता तथा असंगति (absurdity) है। मात्र हाइडेगर शायद मृ सम्मत न ा है। यह असंगत इसलिए है क्योंकि कोई भी व्यक्ति इसके कब्र का अनुमान नहीं लगा सकता। केवल अस्पष्ट रूप से इसकी प्रतीक्षा कर सकता है। मैं इसकी योजना न ा बनाता इसलिए नहीं करता। अत यह मेरी सम्भावना न ा है बल्कि मेरी सब सम्भावनाओं का ग न है और इस रूप में मेरी सम्भावनाओं के बाहर है। मैं इसको चुनाव नहीं करता। यह अपने आप आती है मेरे द्वारा निर्मित या सर्जित नहीं है। यह मेरे जीवन के लिए भी पूर्णत निरर्थक है। इसलिए यह असंगत है।

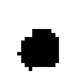
चेतना सदा इच्छा युक्त है जबकि मृत्यु सब इच्छाओं का अन्त। चेतना भावी की आशाएं सजाती है जबकि मृत्यु उनका विनाश करती है। अर्थात् चेतना में ऐसा कुछ भी नहीं है जो मृत्युपरक या तन्मय हो। इसलिए यह मुझसे बाहर है। यह अन्य से है जो मुझे प्रभावित करती है तथा करती है मेरी सम्भावना व संसार को तहस नहस कर डालती है। सार्त्र का यह तर्क कि मृत्यु चेतना से बाहर है कुछ सूक्ष्म है। चेतना को सार्त्र परिमित (finite) मानता है किन्तु मरणशील नहीं मानता। उसके अनुसार चेतना यदि अमर भी न हो तो भी स्वतन्त्रता के अपने स्वभाव के कारण परिमित होती पर मरण चेतना उसमें न ा है उसके बाहर है। इससे यह सिद्ध होता कि जीवन—जो कि स्वतन्त्रता और चुनाव है—की बाह्य परिसीमा मृत्यु है। शायद यह शरीर के कारण है चेतनागत नहीं। सार्त्र के दर्शन में शरीर और चेतना का भी एक स्तर पर अलगाव ग्राह्य है। फलत शरीर बाहर है।

मृत्यु मेरे जीवन या स्वतन्त्रता की परिसीमा भले हो पर मेरे लिए पूर्णत अग्राह्य रहेगा। मुझे तब बगैर घर द पर मुझे छू न ा सकेगी अर्थात् बाधा नहीं बन सकेगी। मृत्यु न ा आती है तब तक मैं स्वतन्त्र हूँ मृत्यु के आगमन के बाद मैं न ा न ा। इसलिए बाधा कैसी ?

सार्त्र कहता यह है कि मैं मरने के लिए स्वतन्त्र नहीं हूँ केवल भावी न ा। चेतना में मृत्यु नहीं आती जीवन (स्वतन्त्र) ही आता है। इस दृष्टि से लिखा सार्त्र का मृत्यु बोध सार्त्र के दर्शन का मूल विकृति या परात स्तुति ।

स न्त ा यह स्वतन्त्रता मनुष्य को अनुत्तरदायित्व पूर्ण होने भागी न ा बनाता बल्कि उत्तरदायित्व पूर्ण बनिनाश का अर्थ है तथा प्रेरणा

हा न्‌ (ग्मक लिए प्रतिपालन करता है । इस उत्तरदायित्व की सीमा म्व तक ही सीमित नहीं है पूरे मेरे विश्व को समाहित किये हुए है। अर्थात् मैं मुझमे सम्पृक्त प्रत्येक वस्तु व्यक्ति या घटना के लिए उत्तरदायी हूँ क्योंकि यह विश्व मेरा है मेरे द्वारा अर्पित है मैने इसका निर्माण किया है, इसलिये इसका ग्रहण करना अर्थात् तत्सम्बद्ध उत्तरदायित्व वहन करना मेरा धर्म है और मेरी प्रामाणिकता है । जो व्यक्ति इस प्रामाणिकता से बचता है वह अ त्म प्रवचक है ।



यह स्वतन्त्र चेतना जैसा कि पहले उल्लेख हो चुका है चेतनायुक्त वस्तु बनना चाहती है । चेतना वस्तु से नकार के द्वारा अलग होती है । किन्तु अभाव होने के कारण वह अलग हो नहीं रह सकती फलत वह वस्तु को गृहीत करना चाहती है स्वय अभावपूर्ति के प्रयत्न मे वस्तु बनना चाहती है। दूसरे शब्दो मे चेतना मे अपने गुणो के साथ ही वस्तु के गुणो को प्राप्त करने की प्रवृत्ति दिखाई देती है । यह विषय और विषयी दोनो के एकात्म्य की असम्भव इच्छा है। यह एकात्म्य केवल ईश्वर' मे प्राप्य है और मनुष्य का यह प्रयत्न ईश्वर बनने का प्रयत्न साबित होता है । यह प्रयत्न कई रूप धारण करता है ।

चेतना इच्छा रूप है इसलिये इच्छा पूर्ति के लिये यह क्रियाशील रहती है। इच्छा अभाव से उत्पन्न हुई है । अभाव की सम्पूर्ति के लिये चेष्टा पैदा होती है। इस तरह शब्द मे स्वत आत्मसात्करण(appropriation)करना है। मनुष्य की प्रत्येक गति वस्तु या अन्य को आत्मसात्कृत करने के लिये उद्दिष्ट है। फलत प्राप्ति या सम्पूर्ति की इच्छा वस्तुत वस्तु होने की ही इच्छा है। वस्तु की सत्ता मे ही व्यक्ति विश्राम करता है फिर भी वह वस्तु नहीं है और वस्तु को आत्मसात करना चाहता है। यह क्रिया अनेकविध होती है क्योंकि चेतना मे अनेकविध वस्तुएँ अर्थात् अपूर्ण रूपो की ही स्थिति है । इसलिए व्यक्ति 'यह' या 'वह' वस्तु विशेष के चुनाव द्वारा अपने विश्व को अधिकृत करने का प्रयास करता है। स्पष्ट है कि इस चाय मे वह पूर्णत स्वतन्त्र है । फलत व्यक्ति की सत्ता इन वस्तुओ के माध्यम से विश्व को आत्मसात करने का स्वतन्त्र चुनाव मात्र ही है ।

असमथ है फिर भी स्वतन्त्र नियागात और उत्तरदायित्व पूर्ण है। यह अधिकाशत व्यक्ति की स्थिति का कृष्ण पक्ष है व्यक्ति या भा वत्तावना है पर असफल परिणाम उसका जन्मसिद्ध अधिकार है । स्पष्ट है कि यह भी अन्य प्रकार का रोमासवाद ही है । यह अधूरे दर्शन अभावात्मक दृष्टि और भावात्मक विद्रोह का आत्यन्तिक फल है ।



७

मार्टिन बूबर

(Martin Bubor)

अस्तित्ववादी दर्शन में बूबर मार्ग का प्रतिनाम है। सार्त्र के संसार में अन्य से मैं का स्वयं या संघर्ष अवश्यम्भावी है। मैं और तुम में सहज सौमनस्य असम्भव है। दोनों के बीच सम्बन्ध एक पारस्परिक तनाव की स्थिति रहती है जिसमें विषयी बने रहने की अभीप्सा और विषय हो जाने की या बना दिये जाने की पारस्परिक आशंका में व्यक्ति संत्रस्त रहता है। व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से सतत मुकाबला करता रहता है आन्तरिक अलगाव के कारण असफलता और अवसाद में घुलता रहता है और अन्य अर्थात् तुम से स्वाभाविक संयोजक सेतु का सफल स्थापित नहीं कर पाता। अन्य व्यक्ति के लिए नरक है।* क्योंकि वह अन्य के अस्तित्व अर्थात् उसकी विषयी भावना को नहीं समझ सकता। इसलिए भय, सन्देह और संशय उत्पन्न होते हैं। फिर यह होता है कि व्यक्ति अपने ही संसार में सिकुड़ जाता है अलग हो जाता है। इस पर भी उसे शान्ति नहीं है क्योंकि अन्य की उपस्थिति का वह हरण नहीं कर सकता। वह अन्य उसके संसार में बलात् प्रवेश करता रहता है। फलतः संघर्ष अनिवार्य है तज्जन्य अशान्ति की आग उसकी नियति है और इस दुर्भाव के साथ जीवन-यापन उसका शाप है। सार्त्र के मैं और तुम में मित्रता नहीं निरन्तर शत्रुता ही परिलक्षित रहती है।

मार्टिन बूबर इस सन्त्रस्त अन्धकारमय संसार में आशा की किरणों का प्रकाश प्रकाशित करता है। तुम अर्थात् अन्य से मैं का तादात्म्य भावी

* The hell is other people —No exit a play by Sartre

समभुर शान्ति सम्बन्ध स्थापित हो सकता है क्योंकि इस तुम को उसकी सम्पूर्णता और अविभक्तता के साथ मैं स्वीकार करूँ इस विषयी (subject) या विषय (objec) में से किसी एक में समाहित कर सकता हूँ। समक्ष में तुम से अपना सारा स्वत्व केन्द्रित कर और न भाग आंशिक रूप में तुम को और स्वाभाविक रूप में प्राप्त करूँ। बूबर का मानना है कि यह सम्भावनापूर्ण नाता समय ही न हो सकता भी है। इस दृष्टि के रास्ते में व्यक्ति समाज की रचना … की विषमता उपजती है … तनाव पैदा होता है।

बूबर किन्हीं सार्वभौम और अमूर्त धारणाओं से विचार प्रारम्भ नहीं करता बल्कि व्यक्तिगत जीवन में अनुभूयमान अस्तित्वगत सम्बन्धों के विश्लेषण से ही अपने दर्शन का प्रतिपादन करता है। अन्य अस्तित्ववादियों के समान उसका भी अध्ययन-विषय मनुष्य समुदाय में रहने वाला मूल मानव ही है। मानवों में रहते हुए मानव के लिए अनिवार्य है कि वह अन्यों से सम्बन्ध या सम्प्रेषण स्थापित करे। इसलिए बूबर इस सम्प्रेषण की समस्या से ही विचार शुरू करता है। उसकी प्रसिद्ध पुस्तक मैं और तू (I and Thou) में यही समस्या विवेचित हुई है। उसके अनुसार व्यक्ति के दो आधारभूत सम्बन्ध-प्रत्यय से अर्थात् वस्तु और जगत से—स्वीकार करता है। पहला है मैं और यह (I It) का और दूसरा मैं और तू (I Thou) का। उसकी धारणा है कि जब भी व्यक्ति मैं का उच्चारण करता है वह स्वयं को अलग-थलग नहीं मान रहा होता है बल्कि दूसरे से या तो वस्तुगत (It) सम्बन्ध स्थापित कर रहा होता है या आत्मिक व्यक्तिगत (Thou) सम्बन्ध। यह वस्तुओं का प्रकार … (मैं-यह) पर आधारित है। मैं वस्तु से तादात्म्य स्थापित नहीं करता बल्कि उसका उपयोग में लाता या ज्ञान प्राप्त करता है। फलतः मैं के व्यक्तित्व के बहुत से अंग यहाँ छिपाये रहते, उपेक्षित या बहिष्कृत हो जाते हैं। इस तरह मैं की पूर्ण तल्लीनता के अभाव में यह सम्बन्ध वस्तुपरक, एकांगी और बहिर्निष्ठ हो जाता है। वैज्ञानिक का दृष्टिकोण ऐसा ही होता है।

मैं-तू के सम्बन्ध में मैं यह से भिन्न मैं पूर्णतः तल्लीन और सक्रिय होता है। मैं-तू का उच्चारण व्यक्तित्व की सम्पूर्णता या समग्रता के माध्यम से ही हो सकता है। इस सम्बन्ध में व्यक्ति का निष्काम और पूर्ण सहयोग अनिवार्य है। यहाँ व्यक्ति दूसरे (तू) से अपने … प्रेम की पूरी तरह प्रतीक्षा करता है। यह वह … व्यक्तिगत सम्मिलन (a personal meeting) है। यह

सम्मिलन पूर्ण अनीश्वरवादिता और मनुष्य आता है और इसमें गया आकाशा आता है कि यह व्यक्ति के या इनके का पूर्ण प्रतिदान (re ponse) इसमें ही मिले। ... ... सम्मिलन का अनुभूति होती है जब कि उस प्रतिदान के ... ... आधार का दर्शन करता है। ... भी प्रति सम्मिलन में दूर नहीं जाते अपनी अस्मि-भावना को भूल न जाएं ... अस्मि भावना को धारण करते हुए वे प्रेम भाव में सम्बद्ध होते हैं। तू ... उच्चारण के साथ ही उच्चारणकर्ता तू-सापेक्ष ... में बदल जाता है अर्थात् तू से प्रतिष्ठित सम्बद्ध हो जाता है और ... कहता है कि वास्तव जीना मिलना ही है।* यह मिलन वहिर्निष्ठ वस्तु के ... पर न ... आता आत्मनिष्ठ चेतना के ... पर होता है। मैं जब तू ... कहता हूं तो उस सत्ता और सम्पूर्ण चेतना के बल से व्यवहार करता हूं तू ... चेतना के ... को ग्रहण करता हुआ उसकी सत्ता में ... अपनी ... को प्रकट भी कर रहा होता हूं। मैं इस तू को न तो उपेक्षा करता हूं और न ... कुछ क्षण के लिए भी स्थगित हो कर सकता हूं। क्योंकि मैं स्वयं ... समझना चाहता हूं और साथ ही साथ इस भी ... चाहता हूं। ... आवश्यक है कि इसमें ... निस्संकोच और पूर्वाग्रहहित वातावरण हो। ... मेरा उद्देश्य स्वयं का ... का होना चाहिए और ... तू ... मन का ... प्रकारेण मण्डन हो। ऐसी परिस्थिति में ही यह ... सम्मिलन आता है।

यह सम्मिलन ... और ... का आता है। इसलिए अस्तित्ववादी ... के अनुसार है यद्यपि ... परम अस्तित्ववादियों के मत का विरोध इसमें आता है। ... मनुष्य का जीवन ... और मृत्युपश्चात् के दो ... के मध्य ... रहता है। बूबर जीवन के इन ... को भी ... स्वीकार नहीं करता। ... अनुसार सम्मिलन त्रिविध है या त्रिस्तरीय है। प्रकृति के साथ जीवन इसका पहला स्तर है जहां ... कि प्रकृति में निर्जीव ... का वस्तुगत सम्बन्ध स्थापित नहीं करता बल्कि तू का ... के लिए ... जाता है। प्रकृति की अनुभूति ... होती है उससे ... प्राप्त करता है और ... में प्रकृति के द्वारा भावानुभूति की

---

* All r al living i meeting —I and Thou

उत्त जना वह अनुभव करता है। यह सबध एकांत और एकतरफा (चूंकि प्रकृति निरपेक्ष रहता है) होने के कारण अनुभवयुक्त तो होता है पर अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। स्पष्ट है कि बूबर सार्त्र के विरुद्ध प्रकृति से भी मनुष्य का सामंजस्य स्थापित करता है। इस सम्मिलन का दूसरा स्तर मनुष्य के साथ मनुष्य में दिखाई देता है। इस स्तर पर मनुष्य दूसरे मनुष्य से अपनी बात भाषा के द्वारा प्रकट कर सकता है और उसमें उपयुक्त प्रतिक्रिया उपजा सकता है। यह संबंध दुतरफा होता है। अध्यात्म के साथ जीवन में तीसरा संबंध कल्पित किया गया है। यहां भी व्यक्ति अध्यात्म की अनुभूति करता है जिससे सहजानुभूति और प्रेरणा जाग्रत होती है। यह संबंध एकतरफा तो नहीं होता किंतु यहां दूसरा (अध्यात्म तत्त्व) इतना अधिक महान् होता है कि वह व्यक्ति की सामर्थ्य को पार करता रहता है उसकी वाणी की पकड़ में नहीं आता। फलतः उस संवाद की झांकी ही अभिव्यक्त की जा सकती है।

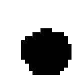
बूबर व्यक्तिगत संबंधों पर अधिक बल देता है उन्हीं के अध्ययन से अन्य स्तरों की व्याख्या करता है इसलिए यह समझना अत्यंत आवश्यक है। इन संबंधों का आधार उसके द्वैत की धारणा है। तू और यह का व्याकरणिक आधार है। यह (It) जड़ वस्तुओं या मनुष्येतर प्राणियों के लिये प्रयुक्त होता है जबकि तू मनुष्य के लिए ही सुरक्षित है और अनौपचारिक व्यक्तिगत संबंध की घनिष्ठता का द्योतक है। किसी को तू कहते ही व्यक्ति (तू) अपने प्रकृत, प्रिय और सहज (पद, मान, मर्यादा से वियुक्त) रूप में उपस्थित होता है। प्रकृति भी यदि तू के रूप में अनुभूत होगी तो एक अनिर्वचनीय सजीव व्यक्तित्व लिए हुए अर्थात् मानवीकृत रूप में प्रस्तुत होगी। दूसरी ध्यान योग्य बात यह है कि तू के संबंध में व्यक्ति अपनी समग्रता के साथ प्रकट होता है। उसके भावात्मक और बुद्धिपरक दोनों रूप उसमें समन्वित रहते हैं। बूबर राग के उदाहरण से इसे स्पष्ट करता है। जब हम राग का रसभोग करते हैं तो राग के विधान अंतरा, शब्द, आलाप आदि का पारिभाषिक विश्लेषण नहीं करते बल्कि राग की समग्रता की ही अनुभूति करते हैं और उसमें तादात्म्य प्राप्त करते हैं। उसी प्रकार अन्य व्यक्ति तू से संबोधित होने पर अपने समग्र रूप में प्रस्तुत हो जाता है। स्पष्ट है कि परस्पर तू के संबोधना में ही यह संबंध है। यह प्रक्रिया निरंतर चलती रहनी चाहिए क्योंकि इसका कोई निश्चित रूप नहीं होता और न मेरा ही कोई स्थिर निश्चित

रूप है। इस प्रकार अन्य को तू के रूप में अनुभव करने का अर्थ है अन्य मनुष्य को सम्पूर्णतः जानना।

अन्त में यह तू का सम्बन्ध स्थापित कैसे हो? बूबर यहां इसाई धर्म के शब्द अनुकम्पा (grace) का आधार लेता है। यह तू भावी मिलन अनुकम्पा में आता है। उसके अनुसार अनुकम्पा सामान्य दैनिक जीवन में ही क्रियाशील देखी जा सकती है। हम कविता पढ़ते हैं बुद्धि से कितनी भी चेष्टा करें इसे ग्रहण नहीं कर सकते। किन्तु वही कविता अचानक या कभी स्वयमेव अन्तःस्फुटित हो जाता है। इसी प्रकार नैतिक नियमों का हम सायास पालन करना चाहते हैं पर उसे अनुभव नहीं करते। गांधी की अहिंसा का अनुसरण करना चाहते हैं पर मन में नहीं कर पाते। पर अचानक किसी मित्र के अद्भुत व्यवहार में हम अहिंसक हो जाते हैं। भगवान बुद्ध की आत्म जागृति में भी यही बात समर्थित होता है कि अनुकम्पा से ही अनेक बार कार्य सम्पादित होता है। यह संयोगजन्य होता है। जिसे हम सामान्य जीवन में संयोग कहते हैं उसे शायद बूबर अनुकम्पा मानता है। इस संयोग में यह आवश्यक है कि हम इसके प्रभाव फल या प्रेरणा को प्राप्त करने के लिये इच्छुक हों इसकी दिशा में भागीदार बनें। इसके अतिरिक्त इस अनुकम्पा को प्राप्त करने के लिए हम प्रयत्न भी करें सफलता मिले इसकी निश्चितता पर ध्यान न देकर। तभी अनुकम्पा प्राप्त हो सकेगी। इस तरह व्यक्तिगत सम्मिलन अनुकम्पा के द्वारा ही जन्य है। इस तू का अवतार भी अनुकम्पा जन्य है सहज है और अनायास है। तू मुझ से मिलता है और मैं भी उसके साथ सम्बद्ध होता हूं। फलतः इस सम्बन्ध में मैं चुनता भी हूं और चुना भी जाता हूं। बूबर अन्य को प्रकृत रूप में ग्रहण करने और मैं का भी प्रकृत रूप में गृहीत होने की क्रिया को 'मैं-तू' की संज्ञा देता है।

बूबर का यह अनुकम्पा कार्य कारण (मूलभूत उद्देश्य और फल) की परम्परा से बद्ध नहीं है क्योंकि ऐसा मिलन में इसका अन्त नहीं रहता अद्वैत या सहजीवन होता है। यह एक अविरत सम्बन्ध है जो भूत और भविष्य न होकर वर्तमान है जहां कारण और कार्य के लिए अनिवार्य कालगति की स्थिति नहीं है दूसरे शब्दों में यह जड़ का संयोग नहीं चेतना का सामंजस्य है। इसके अतिरिक्त इसाई धर्म में वर्णित अनुकम्पा का निश्चयात्मकता (pa rity) भी इसमें अप्राप्य है। भगवान की अनुकम्पा पर आश्रित होने से

मैं तू का मिलन होता है । बूबर प्रत्येकता को आत्मा का स्वाभाविक निवृत्ति और व्यक्तिता को आत्मा का स्वाभाविक सम्बन्ध (प्रवृत्ति) मानता है । समाज सापेक्ष प्रत्येकता में चरित्र जाति यशमाय बुद्धिमत्ता आदि के गुण समाविष्ट हैं जबकि व्यक्तिता में मैं हूं का भाव ही होता है मैं ऐसा हूं प्रत्येकता है और मैं हूं व्यक्तिता । स्पष्ट है कि व्यक्तिता में मनुष्य सामान्य मानव रहता है इसलिए अन्य से सहज सहृद्भावी सम्बन्ध निर्मित कर सकता है । मैं तू का मिलन व्यक्तित्व के इसी स्तर पर घटित होता है । यहां प्रत्येकता नष्ट नहीं हो जाती उसका भी भान रहता है पर वह मिलन में बाधक नहीं साधक सिद्ध होता है ।



बूबर मैं और तू अर्थात् व्यक्ति और अन्य में संघर्ष नहीं मानता । वे एक दूसरे के पूरक हैं अन्योन्याश्रित हैं । तू के माध्यम से ही मनुष्य मैं बनता है । दूसरे मस्तिष्कों से सम्पर्क से ही हमारे मस्तिष्कों का विकास होता है । दूसरे की उपस्थिति की अपरिहार्यता सार्त्र भी स्वीकार करता है पर वह दूसरे से संघर्ष ही पाता है । बूबर प्रेम से इन्हें बांधता है सार्त्र के समान तोड़ता नहीं । बूबर की प्रेम की परिभाषा ईसाई धर्म सम्मत है । मेरा तू के प्रति उत्तरदायित्व ही प्रेम है । अर्थात दूसरे के सुख दुख का भागी मैं हूं । यह पड़ोसी से प्रेम करो जैसी सदाचार भावना पर आधृत है । यह प्रेम इकतरफा नहीं दुतरफा होना चाहिए । तभी यह समाज और राजनीति के क्षेत्र में सहायक हो सकता है । आज की राजनीति प्रत्येकता अथवा समूह के चक्र में फंसी हुई है । इसमें व्यक्तिता को उपेक्षित किया जा रहा है । यदि व्यक्तिता पर भी ध्यान केन्द्रित किया जाय तो बहुत सा वैमनस्य दूर हो जायगा । व्यक्ति समुदाय पैदा होगा जिसमें हम (we) की भावना प्रस्फुटित होगी । एक अन्य पुस्तक में बूबर प्रत्येकता (individuality) और समष्टिवाद (collectivism) में वह आज के समाज की आलोचना करता है कि दोनों दृष्टिकोण (प्रत्येकता और समष्टिवाद)—चाहे कारणगत और प्रकट रूप में कितने ही भिन्न हों—वास्तव एक ही परिस्थिति की उपज हैं । उनमें केवल विकास की भिन्न अवस्थाओं का ही अन्तर है । यह परिस्थिति ब्रह्माण्डगत और समाजगत गृहहीनता [illegible] और जीवन में भय और अभूतपूर्व अकेलापन की

अनुभूति से संयुक्त है। आज प्रत्येक मनुष्य मनुष्य के रूप में प्रकृति से कटा हुआ और व्यक्ति के रूप में समूह की भीड़ में अलग हुआ सा अनुभव करता है। इस परिस्थिति में उसकी पहली प्रतिक्रिया प्रत्येकतावादी होना है और दूसरा समूहवादी। प्रत्येकतावादी व्यक्ति के अंग का ही रक्षण कर पाता है जबकि समूहवादी व्यक्ति को एक अंग बना देता है। इस तरह दोनों समग्र और सम्पूर्ण (whole) मनुष्य की अवहेलना करते हैं। ऐसी परिस्थिति में मनुष्य की समस्या का उत्तर है हम की भावना का विकास। हम उस समुदाय की अभिव्यंजना है जहाँ व्यक्ति अपना स्वत्व (Selfhood) और उत्तरदायित्व को जानते हैं और 'मैं तू' के संबंध में समय समय पर जीवित रहते हैं। सच्चा समुदाय इसी आधार पर निर्मित किया जा सकता है। निष्कर्षतः 'हम' 'मैं तू' संबंध सिद्ध व्यक्तियों का समूह है जहाँ व्यक्तियों की समान भूमिका के कारण मैं की पृथकता के साथ साथ अन्य या समूह में एकान्विति स्थापित की जा सकती है और इस प्रकार एक (व्यक्ति) और अनेक (समाज) के विरोध का समाहार किया जा सकता है।

प्रेम आध्यात्मिक यथार्थ की अनुभूति भी करवाता है। मैं-तू के मिलन में तू मुझे संबोधित करता है तो वह मैं अपनी समान भूमिका में ही परिचित नहीं होता बल्कि तू में स्थित परम तू से भी सम्बद्ध होता है। जिस समय अन्य तू के रूप में प्रकट होता है तो हम यह भूल जाते हैं कि इस तू की नश्वर देशकालगत स्थिति है। चूँकि यह वर्तमान होता है इसलिए इसके माध्यम से मैं परम तू अर्थात् आध्यात्मिक परम सत्य की अनुभूति प्राप्त करता हूँ। जब भगवान ही मुझे संबोधित कर रहे हैं और उन्हें 'पकड़' नहीं पा रहा हूँ क्योंकि वह तू का सम्बोधन मुझमें उभर कर सारी सत्ता के पार जा रहा होता है। यह परम तू ही संसार के तू का आधार है। इसलिए 'मैं-तू' का सम्बन्ध सामंजस्य पूर्ण और समन्वयकारी बना हुआ है। इसलिए भगवान अर्थात् परम तू मैं के सम्बन्ध या प्रेम का आश्रय है।

इससे बूबर यह निष्कर्ष भी निकालता है कि ईश्वर को अनुभूत किया जा सकता है भाषा के द्वारा अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। अर्थात् ईश्वर को बुद्धिगम्य बनाकर परिभाषित नहीं किया जा सकता। वह व्यक्तिगत अनुभव की सगुण धारणा है। इसलिए बूबर उन दर्शनों का खंडन करता है जो ईश्वर को अन्य और सांसारिक विषयों में से एक विषय मात्र बना देते हैं। दार्शनिक बूबर ईश्वर

[illegible] प्राप्त सकते [illegible] उसका विवेचन नहीं कर सकते। [illegible] परम (Absolute) [illegible] बुद्धि से ग्रहण [illegible] नहीं [illegible] सकता। [illegible] [illegible] है। [illegible] यथार्थ है। [illegible] धर्म ईश्वर [illegible] है। [illegible] प्रतिनिधि [illegible] [illegible] उसका [illegible] है।

बुद्ध [illegible] समाधि या [illegible] है। [illegible] अनुभव करता है। [illegible] बुद्ध के अनुसार धार्मिक अनुभव [illegible] मैत्री की [illegible] है। [illegible] व्यक्ति सबद्ध होता है तब भी [illegible] नहीं होता। [illegible] है कि [illegible] संसार—प्रकृति आदि—को माया या [illegible] मानता है जबकि बुद्ध प्रकृति को भी यथार्थ मान कर उसमें मैत्री [illegible] करता है। यही उसका प्रकृति के साथ जीवन है। [illegible] मनुष्य के दैनिक भौतिक जीवन की उपेक्षा है निवृत्ति है। इसलिए [illegible] लोगों के लिए जो [illegible] भौतिक [illegible] पर रहते हैं अनुपयोगी है।

०

बुद्ध [illegible] व्यक्ति निरपेक्ष दृष्टिकोण को मैत्री [illegible] अभिव्यक्त करता है और नष्ट [illegible] व्यक्तिगत आत्मनिष्ठ दृष्टिकोण को मैत्री का [illegible] मानता है। [illegible] विचार [illegible] दृष्टिकोण [illegible] [illegible] है। [illegible] व्यक्ति को भी वस्तु समझने [illegible] अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए [illegible]। दूसरी ओर [illegible] व्यक्ति [illegible] [illegible] है। [illegible] और [illegible] [illegible] है। [illegible] मानवतावाद [illegible] है। [illegible] है कि वस्तुपरक दृष्टिकोण के स्थान पर आत्मनिष्ठ दृष्टि पैदा की जाय

मैत्री का सम्बन्ध स्थापित करने का सतत प्रयत्न किया जाय जिससे मनुष्यता की स्थापना हो और पशि ग्राम गलानि स्वभाव पीना मग्राम आदि के सकार दूर हो जाय।

[illegible] उपर का ज्ञान अस्तित्ववादी ज्ञान हुआ था [illegible] नये कीर्ति [illegible] अस्तित्ववादियों के विरुद्ध पड़ता है। सम्प्रेषण (Communication) की समस्या का कोई सन्तोषजनक उत्तर न मिलने से प्राप्त होता है। यूरोप की समिष्टि ग्राह्य परम्परा का उत्तर ज्ञान के कारण बौद्धिकता की भाषा में ही प्रभावित होता है। [illegible] उल्लिखित मत तुष्टि के विनाश ने उसे इतना [illegible] किया है कि वह पूर्णतः [illegible] गया है। [illegible] आदि मानव मात्र की स्थिति के प्रति उस पूर्वाग्रह [illegible] पूर्ण [illegible] रखता है [illegible] में विश्वास [illegible] [illegible] है। [illegible] और अभाव [illegible] मानव समुदाय के लिए दूसरे का सहारा [illegible] यह ज्ञान सान्त्वना आशा और उत्साह [illegible] सकता है। [illegible] यूरोप ऐसा दूसरा [illegible] मुक्त [illegible] में है नहीं ऐसा [illegible] [illegible] परिणाम [illegible] पहुँचना चाहता है।



८

अतत,

मानव और मानवेतर के द्वैत की समस्या मनुष्य की चेतना को आदिकाल से ही ग्रस्त किये है। जन्म के साथ ही मनुष्य का इतर से मुकाबला होता है।* इतर ऐसा है जो वह नही है अर्थात् उससे इतर है दूसरा है। इतर चाहे प्रकृति के रूप म प्रकट हो अथवा सजीव व्यक्ति के रूप म एक दरार मैं और इतर के बीच उभर आती है। व्यक्ति देखता है कि वह इतर से अलग है विजातीय है अथवा असमान है। फिर भी वह विधानत इसम इसमे और इसके साथ रहता है। फलत वह इसे जानना और समझना चाहता है। क्योंकि सम सम्बद्ध अथवा समन्वित होने की मूल एषणा उसकी चेतना का स्वधर्म है। वस्तुत वह भिन्न है इसलिए सम्बन्ध के द्वारा अभिन्न होना चाहता है अनेक म एक होने के लिए सक्रिय रहता है। यह एक प्रकार का सामंजस्य की एषणा है जो कमोबेश हर व्यक्ति के अन्तर म स्फुट या अस्फुट रूप म हमेशा रहती है।

इतर अनेक रूप है। जड़ प्रकृति की विविधता सजीव प्राणी समूह पशु पक्षी मानव आदि के अनेक विभाग इतर म हैं। व्यक्ति को इतर की पहली प्रतीति इन्द्रियज होती है अर्थात् स्थूल होती है। इतर अपने भौतिक वैविध्य के साथ उसकी चेतना म प्रकट होता है। यह वैविध्य उसमें बाहरी होने की चेतना उत्पन्न करता है उसे ग्रस्त कर देता है। इसलिए व्यक्ति इस बाहरीपन

* फ्रायड एरिक फ्राम आदि मनोवैज्ञानिक मनुष्य के जन्म को उसकी प्रकृति विच्छिन्न अवस्था मानते हैं जिससे जन्म से ही वह अलगाव और रिक्तता से पीड़ित रहता है। तुमाता विश्व म यह विदेशी के समान है।

अलगाव दिखता, स्व और इतर के बीच खुली खाई को पूरने का अपना स्वभावज शक्तियों के प्रयोग द्वारा भरसक प्रयत्न करता है। इसी प्रयत्न का परिणाम है उसके धर्म दर्शन नीति आदि का उद्भव।

इतर को जब वह भावात्मक दृष्टि से देखता है तो इतर का भावात्मक रूप निर्मित होता है। इतर का अनुभाव होता है अर्थात् अनुभूतिमय रूप। वैदिक काल के ऋषियों ने इसी दृष्टि से इतर को हृदयगम किया था और उसके अनुभाव की व्यंजना की थी। उषा के सौन्दर्य सुगन्धायित और प्रकाश की अनुभूति में उषा की भावमूर्ति हुई है जो भावधर्म का सम्बल बनकर देवी बन गई है। अतएव इतर (प्रकृति या पुरुष) की अनुभूति का सामान्य भावपरक आधार कल्पित कर लिया गया है। इसमें बुद्धि की काट छांट (विश्लेषण) का अवकाश ही नहीं है। वस्तु के भाव चेतन प्रभाव (अनुभूति) के अनुरूप ही इतर और ब्रह्म की एकता-व्यापक सत्ता का प्राकट्य मनुष्य की चेतना में स्वयमेव हो जाता है। इस निर्मिति की प्रक्रिया में वस्तु का प्रभाव उसके प्रति जिज्ञासा या प्रश्न और उसका समाधान – ये तीनों भावगत प्रतिक्रिया होते हैं। अतः इस प्रक्रिया में श्रम अत्यन्त क्षीण होता है प्रायशः सहज प्राकट्य की स्थिति रहती है। दूसरी बात यह भी तथ्य है कि इसमें बहिर्वस्तु अर्थात् इतर का अन्तर्भाव होने में इतर की अनन्तविधता अथवा प्रकृति की अवहेलना की जाती है। उषा पूर्वी क्षितिज में घटित होने वाली भौतिक वृत्ति न होकर अन्तर में प्रादुर्भूत देवी बन जाती है। फलतः व्यक्ति मन सापेक्ष इकाई के रूप में सर्जित होती है। मनुष्य की इसी प्रवृत्ति में धर्म और रहस्यवाद की उत्पत्ति हुई है। धर्म और रहस्यवाद में बाहर का नकार होता ही है व्यक्ति का भी नकार होता है। यहाँ दोनों के ऊपर किसी अन्य सत्ता को कल्पित कर लिया जाता है और यह सत्ता व्यक्ति तथा इतर दोनों को नगण्य करती हुई ब्रह्माण्डगत कार्य व्यापार के लिए उत्तरदायी समझी जाती है। अतिमानसिक ईश्वर (तृतीय) पर आश्रित एकता व्यक्ति को नगण्य बना देती है जबकि रहस्यवाद का अन्ततः पूर्णतः आत्मस्थ होने से इतर की अवहेलना ही नहीं करता, उसके व्यक्ति को भी नकारता है। फलतः यह सम्बन्ध जहाँ 'सम्बन्ध' को ही नष्ट कर देती है। व्यक्ति के नगण्य होते ही उसका सम्बन्ध नहीं होता, उसका आत्मिक अनस्तित्व होता है। क्योंकि सम्बन्ध गण्य का ही होता है।

मनुष्य एक दूसरे प्रकार से भी सम्बद्ध होने का प्रयत्न करता है। इतर

को वह निरपेक्ष भाव से अपनी चेतना में प्रतिष्ठित करता है और अचानक सहजानुभूति या सूझ के द्वारा उस इतर के एक सूक्ष्म रूप की प्राप्ति हो जाती है। तत्पश्चात् वह उस रूप का बौद्धिक निगमन (deduction) कर लेता है। इस प्रकार इतर के सूक्ष्म और सामान्य रूप की वह स्थापना कर सकता है। इससे इतर का प्रत्यय उत्पन्न होता है। यह प्रत्यय चूंकि सूक्ष्म होता है इसलिए अनेक रूपों को एक में समाहित कर सकता है। अनेकरूपता भौतिक अथवा इन्द्रियाश्रित होती है प्रत्यय बनते ही इस भौतिकता और इन्द्रियाश्रय से वस्तु मुक्त हो जाती है। प्रत्ययवादी दर्शन इसलिए वैचारिक अधिक है—प्लेटो से लेकर हीगल तक की परम्परा इसे प्रमाणित करती है। यहां भी इतर और व्यक्ति दोनों की उपेक्षा अवहेलना होती है। यहां इतर का अंतर्भाव (प्रत्यय) बौद्धिक रीति से होता है। इसलिए दोनों का सहज और प्रकृत रूप नहीं रहता। व्यक्ति की सजीवता वर्तमानता सम्पूर्णता स्थूलता नष्ट हो जाती है तथा दूसरी ओर इतर इसी प्रकार परिवर्तित सूक्ष्म रूप में गृहीत होता है। एक स्थिर शाश्वत वैचारिक सार सत्ता विकसित होता है चाहे वह प्लेटो का शिव (The Good) हो या हीगल का विश्वात्मा (The world Mind) जिसमें व्यक्ति और इतर की प्रत्ययगत एकता निहित रहती है।

प्रत्ययवादी दर्शन की रीति में वस्तु का अन्तर्भाव होता है अर्थात् अंत के दृष्टि-केन्द्र से बहिः का रूप निर्धारित किया जाता है उसका सार निकाला जाता है। स्पष्ट है कि यहां अंत अर्थात् व्यक्ति का सहजानुभूति पर आश्रित बौद्धिक क्रिया से संयुक्त मानस प्रमुख है। दूसरे शब्दों में प्रत्यय की एकता अंतर्निष्ठ एकता ही है बहिर्निष्ठ नहीं। इसी बौद्धिकता से उत्पन्न वैज्ञानिक दृष्टि में बहिर्स्थित इतर प्रमुख हो जाता है। फलतः व्यक्ति और इतर को इतर (वस्तु) के दृष्टि केन्द्र से समझा जाता है। वैज्ञानिक का उद्देश्य इसलिए किसी एकता की स्थापना करना नहीं है बल्कि इतर और अहम् के शुद्ध बुद्धिनिष्ठ रूप की खोज करना है। यहां सामंजस्य की चेष्टा के स्थान पर वस्तु का 'ज्ञान' प्रधान है। पर यह ज्ञान व्यक्ति निरपेक्ष होता है तथा भौतिक इन्द्रियावलम्बित अनेकता की मूल एकता की उपलब्धि तक पहुंचता है। यहां भी सामान्यीकरण और सूक्ष्म विधान उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना प्रत्यय वादी दर्शन में वैज्ञानिक ज्ञान मज्जा का अणुतक ले जाता है जिसमें मज्जा मज्जा नहीं रहती बल्कि जीवन निरपेक्ष तत्त्व बन कर नीरस और निर्विशेष हो जाता है। फलतः विज्ञान में भी सहज प्रकृत इतर का विरूपीकरण होता है

अर्थात् व्यक्ति और वस्तु ज्ञान का सूक्ष्मीकृत कर उनकी सम्पूर्णता को नष्ट कर दिया जाता है। दूसरी बात में वाह्य के सन्दर्भ में या वहिर्मुखी रूप में समझने की चेष्टा की जाती है जिसका परिणाम यह होता है कि प्रत्ययवादी दर्शन के समान यहां भी सजीव व्यक्ति तिरस्कृत ही रहता है तथा किसी प्रत्ययबद्ध या नियमबद्ध प्रकृति (Law governed Nature) के सामान्य (Generality) में वह अपनी विशिष्टता व अनन्यता (Uniqueness) को खो देता है। बाहर के सन्दर्भ में भीतर को जानने या उसके रूप को निर्धारित करने का वैज्ञानिक प्रयत्न भी सम्बन्ध की सजीवता और सम्पूर्णता में बाधा पहुंचाता है क्योंकि इसमें भी व्यक्ति नगण्य बनता है और व्यक्ति का सारभूत विचार गण्य। इसके अतिरिक्त आधुनिक विज्ञान ने विज्ञान के मूलाधार बुद्धि (Rationality) के सम्मुख भी प्रश्नचिह्न लगा दिये हैं।

इस प्रकार धर्म की मताग्रहता रहस्य की अन्तर्निष्ठता प्रत्ययवाद की नीतिगत व्यवस्था और विज्ञान की बहिर्मुखी सामान्यता—सब में सजीव व्यक्ति और तत्सम्बद्ध स्तर के एकांगी निश्चित निर्जीव और पराश्रय रूप स्थिर होते हैं। इतरमत्ति व्यक्ति इतना पूर्ण है कि इन एकपक्षी (फलतः अपूर्ण) दृष्टिकोणों की पकड़ में नहीं आता। इनकी वस्तुगत व्यवस्थाओं से बाहर उभरता रहता है। उसकी अपनी विधानगत अस्पष्टता अनिश्चितता और बहुरूपिता के कारण वह इन दृष्टिकोणों के परिवृत्त में बद्ध नहीं होता। क्योंकि ये सब दृष्टिकोण उसके व्यक्तित्व के किसी एक अंग (मात्र बुद्धि या सहजानुभूति) से उसका एकांगी प्रत्ययगत रूप स्थापित करते रहे हैं। प्रत्ययवादी दर्शन उसके सम्पूर्ण का आभास कराना चाहता है तो विज्ञान उस कल्पना को स्वभाव से अलग समझते हुए भी उस दिशा में प्रयत्नशील दिखाई देता है। सामाजिक विज्ञानों के आधार पर इस तथ्य को आसानी से समझा जा सकता है। संक्षेप में ये सारे दृष्टिकोण व्यक्ति और स्तर को उभय निरपेक्ष वैचारिक धारणा में परिवर्तित करते रहे हैं। फलतः व्यक्ति-जीवन और धारणा में संघर्ष स्पष्ट होता रहा है।

•

अस्तित्ववाद की उत्पत्ति के मूल में यही सम्बन्ध विधान का स्वाभाविक स्फूर्ति प्रसार और प्राप्त दृष्टिकोणों (धर्म दर्शन विज्ञानादि) की निरर्थकता

का बोध रहा है। अस्तित्ववादी मूलतः ही यह स्वीकार करके चलता है कि व्यक्ति की समुचित परिभाषा नहीं दी जा सकती क्योंकि वह अस्पष्ट ही नहीं स्वतन्त्र और सक्रिय भी है। वह सजीव अनवरगामी अस्तित्व है फलतः निश्चित स्थिर और सुग्राह्य नहीं है। इसलिए उसके स्वरूप या सम्बन्ध का भी कोई निश्चित स्थिर और ग्राह्य रूप नहीं प्राप्त किया जा सकता। पूर्वोक्त दृष्टिकोणों की असफलता और निरर्थकता इसे स्पष्टतः प्रमाणित करती है। इसलिए आवश्यक है कि व्यक्ति के किसी अन्तिम स्थिर प्रत्ययगत रूप की महत्त्वाकांक्षा से बचा जाय उसे उसके प्रकृत स्वाभाविक और सहज स्पष्ट क्रियाशील रूप में ही ग्रहण किया जाये। फलतः उन बौद्धिक और सहजानुभूतिनिष्ठ माध्यमों तथा रीति प्रक्रियाओं का भी परित्याग किया जाये जिनसे व्यक्ति के निश्चित सारभूत अस्तित्व की धारणा उपलब्ध की जाती है। जब हम इस बात को स्वीकार कर लेते हैं कि मनुष्य का अस्तित्व अस्पष्ट और सक्रिय है तब हमें यह भी मान लेना पड़ता है कि इस अस्तित्व के इन्द्रियपरक रूप (अर्थात वर्तमान) का बोध ही उसका सत्यस्वरूप है उसके भूत और भविष्य का सम्यक्बोध हमारी सामर्थ्य के अतीत है उसके भूत तथा भविष्य का हम अनुमान अवश्य लगा सकते हैं पर अनुमान अनुमान ही होता है सत्यज्ञान नहीं। क्योंकि मनुष्य की अस्पष्टता और सक्रियता को स्पष्ट (एकांगी) और निष्क्रिय (स्थिर) बनाने से ही अनुमित स्वरूप निर्मित होता है। स्पष्ट है कि मनुष्य की अस्तित्वगत अस्पष्टता तथा सक्रियता आरोपित स्पष्टता और निष्क्रियता से उद्भूत अनुमान को गलत सिद्ध कर देगी। इसी तथ्य को लक्षित कर अस्तित्ववादी विचारक आगमन निगमनपरक बौद्धिक पद्धति के स्थान पर वर्णन (इन्द्रियविषय-वर्णन पद्धति) पर बल देते हैं। इस प्रकार ये बुद्धि (rationality) की सर्वकारिता को अस्वीकार करते हैं।

अस्तित्व की अस्पष्टता और सक्रियता का अर्थ है सम्भावना। यह सम्भावना भविष्य में घटनेवाली नियमानुमित घटना या निश्चित रूप नहीं है बल्कि कुछ भी हो सकने की सामर्थ्य है। फलतः यह वैज्ञानिक के भविष्यकथन (Prediction) की सीमा में नहीं आती। मनुष्य के बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि विशेष सामान्य परिस्थिति में वह उसी विशेष सामान्य प्रकार से व्यवहार करेगा जैसा वैज्ञानिक जल के विषय में कह सकता है कि सामान्य विशेष तापमान में जल सामान्य विशेष भाप में परिवर्तित हो जायगा। इसमें

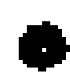
यह सिद्ध हुआ कि मनुष्य की सम्भावना वस्तुनिष्ठ सम्भावना के समान नियम शासित नहीं है वरन स्वतन्त्र है। निश्चयतः मनुष्य सक्रिय है इसलिए सम्भावना युक्त है और इसलिए वह स्वतन्त्र भी है चूंकि वह स्वतन्त्र है परि णामस्वरूप भौतिक और प्रत्ययगत सामान्यीकरण (generality) अथवा स्थिर समष्टिगत मानव प्रकृति (Human nature) में भी बद्ध नहीं है। अतः वह व्यक्तिगत स्वतन्त्रता से युक्त है और तत्सम्बद्ध कार्यों और परिणामों के लिए स्वयं उत्तरदायी भी।* इसी व्यक्तिगतता की सघन अनुभूति के कारण अस्ति त्ववादी तर्कना-प्रधान हीगल और काँट के मार्गों का अस्वीकार करते हैं और वस्तुस्थिति अनवरता को स्वीकार करते हैं। अनवरता के स्वीकार का मतलब है स्तर में अलगाव विच्छिन्नता और अस्तित्व की एकान्तता की स्वीकृति तथा तत्सम्बन्धों का नव सृजन। इस तरह अस्तित्ववादी स्तर में अलगाव पर आश्रित है और अपने मौलिक रूप में (उदाहरणार्थ मात्र में) मनुष्य के स्वयं में (मन और शरीर) अलगाव को भी मूलभूत मानता है और इस अलगाव के प्रत्ययवादी अथवा बौद्धिक विज्ञान प्राप्त समाधानों का अस्वीकार करता है। तत्त्व और तर्काश्रित वस्तुपरक मूल्यों को भी इसलिए इसमें निरस्त किया गया है। व्यक्ति स्वतन्त्र होने के कारण स्वयं मूल्य निर्माता है हाइगर के अति रिक्त सब विचारक इस मत से सहमत हैं।

अस्तित्ववादी सामान्य मानव प्रकृति को भ्रम समझता है वह मनुष्य के स्थूल सजीव और दैनिक अस्तित्व को अधिक महत्त्व देता है। दैनिक जीवन में व्यक्ति स्वयं को स्तर में बद्ध भी पाता है और उसी स्वतन्त्र भी। इस दुविधा की स्थिति में उसके अस्तित्व में प्रायः भय अशान्ति उदासी नता एवं मानसिक भाव जाग्रत होते हैं जो उपेक्ष्य न होकर ध्यातव्य हैं। क्योंकि इन्हीं के द्वारा वह जीता है। किन्हीं धर्म दर्शन नीति आदि के सामान्य नियमों के आधार पर यदि वह इनकी उपेक्षा करेगा तो आत्म प्रवंचना पूर्ण और अप्रामाणिक जीवन-यापन करेगा। अस्तित्ववादी इस परम्परागत सामाजिक सामान्य जीवन पद्धति को नकार कर व्यक्तिनिष्ठ प्रामाणिकता को स्थापित करने का कठिन प्रयत्न है। इसमें स्वतन्त्रता की स्वीकृति है व्यक्ति

* स्वतन्त्रता में नियमपालन की अस्वीकृति है। इसलिए किसी कार्य या फल के लिए नियम (स्तर व्यवस्था) को उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता।

को उस अनेकता म रहना पडेगा उसस सम्बद्ध होना पडेगा। यह सम्बन्ध रागात्मक (यास्पस बूबर) हो सकता है और द्वन्द्वात्मक (सार्त्र) भी। बौद्धिक दृष्टि से यह सम्बन्ध सामान्य न होने से असगत (absurd) होता है।

सक्षेप म अस्तित्ववाद शाश्वत सामान्य और वचारिक (मनुष्यविषयक) धारणाओं को अस्वीकार करता है। इसी के साथ साथ वज्ञानिक वस्तुपरकता तथा वज्ञानिक पद्धति को भी अनुपयोगी मानता है अर्थात् बुद्धि या विवेक (reason) की सवसामथ्य का अस्वीकार कर असगति का स्वीकार करता है। अनेक की सत्ता के स्वीकार द्वारा व्यक्ति को प्रधानता देता है यह व्यक्ति स्वतन्त्र, वरणधर्मी मूल्य सजक सम्बन्ध विधायक और उत्तरदायी व्यक्ति है जिसकी आकाक्षा सवसामान्य समाधान प्रस्तुत करने की नही है बल्कि प्रमाणिकता प्राप्त करने की है। यह सुखदुख से मिश्रित व्यक्ति सासारिक व्यावहारिक और साधारण सजीव अस्तित्व है। इतर स अपने अस्तित्व की सम्पूणता क साथ व्यगित सबध विधान इसकी नियति है चाहे यह सम्बन्ध मैं–तू (बूबर का सद्भाव युक्त हो अथवा मैं × अन्य' (सार्त्र) का द्वन्द्व भावी।



अस्तित्ववाद के उद्भव क लिए प्राय युरोप का युद्धोत्तर विपन्न विशृखल और विघटित मानव अवस्था को उत्तरदायी समझा जाता रहा है। युद्ध अविवेकज पाशविक वत्ति का परिणाम सिद्ध हुआ जिससे युरोपिय व्यक्ति की बुद्धि-श्रद्धा विज्ञान की कल्याण कारिता मानव उन्नति आदि की धारणाए ध्वस्त हो गइ। परिणामत अस्तित्ववाद जस व्यक्ति-परक आत्मनिष्ठ दशन का जन्म हुआ जिसम युद्धप्रसूत अनिश्चय भय मृत्यु बोध सकट व्यक्ति निष्ठता आदि भाव प्रतिबिम्बित हैं स्थूलत बाहरी स्तर पर यह बात ठीक भी है किन्तु सूक्ष्म दाशनिक स्तर पर यह सम्पूण सत्य नही है। क्योंकि यह अस्तित्ववाद क प्रचार प्रसार अथवा लोकप्रियता का स्पष्टीकरण ही करती है इसक उद्भव क मूल कारणों का ज्ञान नही दता।

वस्तुत अस्तित्ववाद सामान्य (general) क विरुद्ध विशेष (particular) का विद्रोह है। यह सत्य है कि यह विशेष विशिष्ट कारणो स इस सदी म अधिक मुखर हुआ है किन्तु दशन चिन्ता क प्रारम्भ स ही यह यदाकदा अपना सिर उठाता रहा है। प्लेटो क सामान्य के प्रति शका का भाव प्लेटो के सवादो

म ही प्राप्त होता है। हेरेक्लिटस जिसका आधुनिक रूप बर्गसों का दर्शन है का प्रवाह (Flux) प्रकारान्तर से अस्पष्टता और अस्थिरता की स्वीकृति और सामान्य का अस्वीकार है। असल में सामान्य विषय और विषयी के द्वैत का समाहार है। दूसरे स्तर पर यह विषयों और विषयियों की विशेषताओं को समतल कर एकता स्थापित करने का प्रयत्न करता है। प्रत्ययवादी दर्शन और विज्ञान दोनों में इस प्रक्रियागत सामान्य का सर्वोपरि स्थान रहा है। हीगल के विश्वात्मा और विज्ञान के अणु में कोई मूलभूत प्रक्रिया और निष्कर्षगत अन्तर नहीं है।* दोनों ही विशिष्ट की उपेक्षा कर सूक्ष्म और पृथक सामान्य की स्थापना करते हैं चाहे इस सामान्य में व्यक्ति आत्मा (प्रत्यय वादी) केन्द्रस्थ हो या बहिर्व्याप्त पदार्थ (विज्ञान)। धर्म के क्षेत्र में भी ईश्वरीय सामान्य की प्रमुखता द्रष्टव्य है। ईसाई धर्म का प्रारम्भिक ईश्वर श्रद्धाश्रित भावमय इकाई था किन्तु मध्यकाल में थामस एक्वीनास के प्रभाव से वह अरिस्टार्टेलियन सार या धारणा बन गया था। व्यक्तिगत ईश्वर के गुण क्रमशः क्षीण हो गये थे। इसके साथ साथ चर्च के बौद्धिकीकरण और संस्थागत अधिकार के कारण भी एक इस प्रकार के सामान्य की स्थापना हुई कि व्यक्ति तुच्छ नगण्य और काष्ठवत बना दिया गया था। पश्चिमी समाज-व्यवस्था के निर्माण में इन तीनों तत्वों का ही योगदान रहा है। फलतः सामाजिक स्तर पर भी सामान्य की प्रतिष्ठा हुई जिसके परिणाम स्वरूप विशिष्ट व्यक्ति एक उपकरण या समाज-यन्त्र के एक अंग में परिवर्तित होता गया और हो रहा है।

इस सर्वग्रासी सामान्य के चंगुल से छुटकारा प्राप्त करने और व्यक्ति सत्ता की पुनर्प्रतिष्ठा करने की आकांक्षा का परिणाम है अस्तित्ववाद का आविर्भाव। कीर्केगार्द द्वारा अस्तित्व शब्द के प्रचलन और विशेषार्थी प्रयोग से पूर्व पास्कल (Pascal) और आगस्टाइन (Augustine) में इस सामान्य का भावात्मक विरोध प्राप्त होता है। कीर्केगार्द में यह अत्यन्त प्रबल भावावेग के रूप में प्रकट हुआ है। कीर्केगार्द ने प्रत्ययवादी दर्शन (हीगल) विज्ञान और धर्म (चर्च) तीनों स्तरों पर विद्रोह किया और विषयीभाव (subjectivity)

---

* प्रत्ययवाद में निगमन (deduction) का प्रयोग होता है जबकि विज्ञान में आगमन (Induction) का।

की सबल स्थापना की है। यास्पस मार्सल सार्त्र नुनर आदि सब अस्तित्ववादी इस अनेक रूप सामान्य का विरोध करते हैं और व्यक्ति सत्ता के महत्व का प्रतिपादन।

बीसवीं सदी में यह अधिक लोकप्रिय हुआ है। पास्कल नीत्शे, कार्केगाद देस्तोवस्की आदि की विचार प्रवृत्ति अस्तित्ववादी होते हुए भी अपने समय को प्रभावित नहीं कर सकी थी। प्रत्ययवादी दर्शन के प्रामुख्य और विज्ञानाश्रित मानवतावाद के प्रबोधयुगीन आदर्शों के कारण उस युग को अस्तित्ववादी यथार्थ मानव अयथार्थ लगा था। किन्तु बीसवीं सदी में प्रत्ययवादी धर्म और मानवतावाद के अप्रामुख्य से इसको सर्वप्रमुख माने जाने लगा है। आज के पश्चिमी (विशेषत योरोपीय) व्यक्ति की स्थिति के पर्यवेक्षण से यह बात अधिक सफलता से समझ में आयगी।

यह निर्विवाद है कि विज्ञान के विकास ने पश्चिम में अभूतपूर्व उथलपुथल मचाई है। विज्ञान से उस प्रबोधयुगीन मानववाद या उदारतावादी ऐतिहासिक दृष्टिकोण का जन्म हुआ जिसमें व्यक्ति के महत्त्व की स्थापना बहिर्व्याप्त पदार्थ के सन्दर्भ में हुई। प्रकृति विज्ञेय है जाना जा सकती है पदार्थ ही सत्य है आदि वैज्ञानिक उपलब्धिजन्य धारणाओं ने व्यक्ति को आशावान तो अवश्य किया कुछ अंश तक विशिष्ट के महत्व की स्थापना भी की किन्तु अन्तत उसे प्रकृति के सामान्य का एक अंग ही स्थिर किया। यह मानवतावादी शक्ति धीरे धीरे विषयगत अर्थात् मानात्मक होता गया। इसी भावभूमि से इसी प्रजातन्त्र की राजनीतिक व्यवस्था में यह बात सिद्ध होती है। व्यवस्था का राज्य विषयगत वस्तुपरक (objective) बहुमत का ही राज्य है व्यक्ति का नहीं। हाथ उठाने में (vote) जब कोई बात तय होती है तो वहां व्यक्तिगत विवेक आत्मा और नैतिक अनुभूति की उपेक्षा होना अनिवार्य है। इस तरह प्रजातन्त्र की राज्य व्यवस्था भी व्यक्ति शोषक ही सिद्ध होती है फासिज्म नात्सिज्म और मार्क्सिज्म की व्यवस्थाओं में तो यह होना अत्यन्त स्वाभाविक है ही। सामाजिक स्तर पर विज्ञान का बड़ा विघटनकारी प्रभाव पड़ा है। यन्त्र उद्योग और नगरीकरण की उत्तरोत्तर उन्नति से कृषिप्रधान पारिवारिक भावात्मक दृष्टि खण्डित हो चुकी है जिसका कुप्रभाव परिवार और पड़ोस जैसी चेतना के सम्बन्धों पर पड़ा है। यन्त्र ने मनुष्य को बुद्धिरहित पुर्जा बना दिया है उद्योग ने उसे आर्थिक सिद्ध किया है और नगरीकरण ने

उसने बाजारू सम्बन्ध भावना (Market relations) उत्पन्न की है। मानव मूल्यों के विनाश के साथ स्वपक्ष व्यक्ति सापेक्ष मूल्यों की स्थापना हुई है और ये मूल्य अधिकांशतः (पूर्वोक्त यंत्र आदि के विकास के कारण) अर्थ के और स्थूल तत्त्व तक सीमित रह गये हैं। फलतः मनुष्य की भावात्मक परस्परावलम्बन की वृत्ति निर्जीव (atrophied) होती जा रही है। वस्तुतः यंत्र मनुष्य के मनुष्यत्व को नष्ट करता जा रहा है। यन्त्र द्वारा ही मशीन के चालू होने से उसकी शारीरिक शक्ति उपेक्षित हो गई है और विज्ञान निर्मित कम्प्यूटर के आविष्कार से उसकी बुद्धि की महत्ता भी नष्ट होने वाली है। इसी अमानवीयता को लक्ष्य कर एरिक फ्राम (Eric Fromm) ने कहा है कि उन्नीसवीं शती में ईश्वर मरा तो बीसवीं शती में मनुष्य ही मर गया है। स्पष्ट है कि जो यंत्र मनुष्य का दास था आज स्वामी हो गया है। फलतः सुख-शान्ति के श्रेय प्रेय भावों का आलंबन न होकर भय घृणा निरर्थकता आदि की अनुभूति का जन्मदाता बन गया है। दूसरी तरफ इसी वैज्ञानिक यंत्र का परिणाम है सर्वसंहारी आणविक अस्त्र जो मनुष्यों को कीड़े मकोड़े के समान मार डालते हैं। उसकी मृत्यु भी मानवीय नहीं रही। विश्व-युद्धों की दुर्घटनाएँ वैज्ञानिक विकास की संहारकारिता को ही प्रमाणित नहीं करतीं विज्ञानाश्रित बुद्धि-श्रद्धा और मानवतावाद को भी निरर्थक सिद्ध करती हैं। युद्ध मनुष्य के अविवेक पाशविकता और आसुरी वृत्तियों का परिणाम है। मनुष्य विवेकशील नहीं है यह पीड़ादायक प्रतीति 'प्रवृत्ति' की पुनःप्रतिष्ठा की माँग करती है तथा यह भी प्रमाणित करता है कि मनुष्य भविष्यनीय (Predictable) नहीं है। वह स्वतंत्र है आवश्यकता (Necessity or determinism) का पुतला नहीं है।

स्पष्ट है कि युद्ध जनित पीड़ा शून्य बोध नास्तिकता निरुपायता असहायता आदि के नकारों का समाधान अस्तित्ववाद में हुआ है पर इसे इन्हीं तक सीमित मान लेना न्यायसंगत नहीं है। अस्तित्ववाद रोमांटिक मानवतावादियों की तरह जीवन के शुभाशुभ का द्रष्टा नहीं अपितु वह उसके कृष्ण पक्ष की उपस्थिति को भी स्वीकार करता है। किन्तु इसके साथ ही साथ वह व्यक्ति के महत्त्व उसकी स्वतंत्रता उत्तरदायित्व स्वातन्त्र्य चुनाव की गरिमा आदि व्यक्ति प्रतिष्ठापक गुणों का प्रबल समर्थन करता है। प्रकारान्तर से यह प्रबल कृष्ण पक्ष के प्रति भी विद्रोह करता है। सम्पूर्ण ज्ञान से उद्भूत व्यक्तिगत प्रामाणिक जीवन

की प्रतिष्ठा उसका उद्देश्य है। मूलतः प्रस्ति त्ववाद मानववादी ही है जिसमें प्रबोधयुगीन भ्रमाश्रित भावुकता नहीं है। आधुनिक अस्तित्ववादियों में व्यक्ति प्रतिष्ठा पर अत्यधिक बल दिये जाने से वह फिर एक अलगाव का शिकार अवश्य हो गया है पर व्यक्ति के महत्व की स्थापना इससे शुरू से हो रही है।

संक्षेप में कहें तो अस्तित्ववाद सजीव जीवन की धारणा (Idea) के प्रति व्यक्तिगत धर्म का संस्थागत धर्म के प्रति प्रत्यक्ष सद्यानुभव का सूक्ष्म बुद्धि विचार के प्रति, व्यक्ति चेतना का समूह योजना के प्रति सम्पूर्ण का अलगाव के प्रति मानव स्वातन्त्र्य का भौतिक नियति (determinism) के प्रति दर्शन का विज्ञान के प्रति अनेकविध विद्रोह है जिसे सूत्रात्मक ढंग से हम विशिष्ट का सामान्य के प्रति विद्रोह कह सकते हैं।



क्या अस्तित्ववाद खण्डित सन्त्रस्त और भयाकुल आधुनिक पश्चिमी व्यक्ति को स्वास्थ्य प्रदान कर सका है या कर सकता है? आधुनिक व्यक्ति की पीडा के स्थूलतः दो कारण हैं —(१) अलगाव और (२) समूह या वस्तु तत्त्व में समाहित होती हुई उसकी आत्मसत्ता या मानवीयता। इन दोनों के विषय में उसकी चेतना स्पन्द निष्क्रिय और किंकर्तव्यविमूढ़ हो गई है। वह अनिश्चय विसंगति दुविधा और शंका के कुहरे में कोई आधार टटोल रहा प्रतीत होता है। क्या अस्तित्ववादी दर्शन में इसका कोई उपचार दिखाई देता है?

जहां तक अलगाव की समस्या का प्रश्न है मुझे नहीं लगता कि अस्तित्ववाद कोई निश्चित सुस्पष्ट तथा आशापूर्ण समाधान प्रस्तुत करता है। सार्त्र और कामू जैसे निरीश्वरवादी अस्तित्ववादियों में तो यह अलगाव अपनी चरम सीमा पर दिखाई देता है। इनके मत में व्यक्ति का असंगतियुक्त (absurd) सबंध है अर्थात् यह अबोधगम्य अनन्वय और अनिवार्य है। इतर (प्रकृति) और आत्म (मस्तिष्क) पूर्णतः विरुद्धधर्मी हैं। प्लेटो-काल से चला आता प्रत्यय (Ideas or essences) भ्रम है विज्ञान सूक्ष्म सामान्य ज्ञान में सजीव ग्रहण के लिए अनावश्यक है—इस भावभूमि के आधार पर सार्त्र इतर और अहम में असाध्य विभेद स्थापित करता है। इसलिए दोनों में तनाव का होना ही हो सकता

है। यह न माती नाना स्वभावत इनम सघप या द्वद्व उत्पन्न करता है। परिणामस्वरूप व्यक्ति और वस्तु का अलगाव मृत्युपर्यन्त रहेगा। इतना ही नहीं सात्र व्यक्ति को अन्य व्यक्तियों से भी हमेशा के लिए 'अलग' देखना है। जैसा पहले सात्र पर विचार करते समय स्पष्ट किया जा चुका है कि सात्र का व्यक्ति दकार्तीय विषयी विषय द्वद्व का विषयी (Subject) है जो अन्य को विषय रूप (object) म ही ग्रहण करता है जबकि अन्य व्यक्ति भी चेतन होने के कारण पूर्णत विषय नहीं है। इसलिए सघप अवश्यम्भावी है। सात्र म यह अलगाव चरमावस्था प्राप्त करता है क्योंकि यहाँ व्यक्ति के शरीर तथा मस्तिष्क म ही नहीं स्वय चेतना (मस्तिष्क) म भी विषयी विषयात्मक विभाजन स्वीकार कर लिया गया है। कीर्कगार्ड जो विषयी भाव को ही अपना प्रमाण मानता था भी इस अलगाव की समस्या का कोई निश्चित समाधान नहीं दे सका है यद्यपि उसके दशन म मनुष्य और ईश्वर के अलगाव पर अधिक बल दिया गया है। ईश्वर और व्यक्ति म क्षणिक सामजस्य स्थापित भी होता है किन्तु फिर वही अलगाव पुन जी उठता है। इसीलिए वह बार बार 'पुनरावृत्ति' की बात कहता है। वस्तु और व्यक्ति चेतना म सामजस्य तो विषयी भाव ही को प्रामाणिक मानने वाले दशन म अकल्प्य ही है। यास्पर्स और बूबर म भावात्मक स्तर पर प्रेम के द्वारा सामजस्य स्थापित करने का प्रयत्न द्रष्टव्य है किन्तु यह भी अनिश्चित अस्थिर और नैराश्यमय होने के कारण सजन और काय का आधार नहीं बन सकता है। यह भावात्मक अनुभूति मात्र रह जाता है जिसम द्वेष या सघप तो नहीं होते पर सम्पूर्ण समन्वय न होने म निर्माणक शक्ति का जागरूकता भी अनुपस्थित ही रहता है। यह हम असहमत होने के लिए सहमत हैं जैसी स्थिति प्रतीत होती है। हेडेगर में अवश्य भू की धारणा के द्वारा सामजस्य की निर्मिति हुई है। पर वह सामजस्य भी आज के व्यक्ति के लिए समाधान रूप नहीं हो सकता क्योंकि हेडेगर भू की पुनस्मृति (recall) की बात करता है पर वह पुनस्मृति कैसे हो? के विषय म मौन रहता है। इस तरह अस्तित्ववाद इस क्षेत्र म असफल सिद्ध हुआ है और इसके सफल सिद्ध होने की सम्भावना भी नहीं है। क्योंकि इसम इतर के मूल्य पर व्यक्ति (अहम) को अधिक महत्व दिया गया है।

वस्तुत अलगाव का समाधान अस्तित्ववाद में इसलिए नहीं है क्योंकि

इसमें समस्या के रूप में अन्तर्गत प्रमुख नहीं है सामान्यता सामूहिकता या वस्तुपरकता की अतिव्याप्ति का संकट प्रमुख है। यह अस्तित्व संकट का दर्शन है जो यान्त्रिक मशीन की भौतिकता राज्य की वायवी नियम शक्ति उद्योग की अमानवीयता समाज का सामूहिकता और युद्ध की पाशविकता के प्रतिरोध का सजग प्रयत्न करता है। इसलिए इसमें व्यक्ति को बलपूर्वक सर्वाधिक गण्यतम और महत्वपूर्ण माना गया है जिसका परोक्ष प्रतिफल यह हुआ है कि व्यक्ति और भी अलग अकेला और आत्मनिष्ठ बनता गया है।

सामूहिकता से बचाव का रास्ता है उससे सम्पूर्ण मुक्ति अर्थात् व्यक्ति की स्वतन्त्रता की सबल स्थापना। सब अस्तित्ववादियों में व्यक्ति की स्वतन्त्रता स्वीकृत हुई है। व्यक्ति चेतना स्वतंत्र है क्योंकि व्यक्ति चुनाव करता है। चुनाव की क्रिया किसी कार्यकारण परम्परा से बद्ध नहीं है। चुनाव व्यक्ति चेतना की स्वतन्त्रता को प्रमाणित करता है और स्वतन्त्रता चुनाव की संभावना का आधार निर्मित करती है। मनुष्य स्वतंत्र है इसी कारण से वह चुनाव कर सकता है अर्थात नियति और कार्यकारण के नियमन से अतीत हो सकता है। कीर्केगार्ड से लेकर बूबर तक सब चर्चित विचारक व्यक्ति चेतना के स्वातन्त्र्य पर बल देते हैं। इस स्वतन्त्रता का जो आविष्ट आंशिक रूप कीर्केगार्ड और नीत्शे में प्राप्त होता है तो बौद्धिक विश्लेषण हेडेगर और सार्त्र में। सार्त्र में यह चरमसीमा तक पहुंच चुकी है। रूसो आदि रोमेंटिक विचारकों का प्रदाय ही यह व्यक्ति स्वतन्त्रता है जिसको अस्तित्ववाद में तत्त्वविद्यागत तत्त्व का रूप दे दिया गया है। सार्त्र रूसो के समान मानता है कि मनुष्य जन्म से ही स्वतंत्र है पर वह रूसो की दूसरी बात कि वह सर्वत्र स्थान पर बद्ध भी है का अस्वीकार करता है। मनुष्य स्वतंत्र है अर्थात् समूह के विचार परम्परा नियम और व्यवस्था से बद्ध नहीं है। वह व्यवस्था में उत्पन्न होता है किन्तु अपनी उस व्यवस्था को पुनर्निर्मित कर स्वयं की व्यवस्था स्थापित करता है। इसी चेतना की स्वतन्त्रता की बौद्धिक मांग है चेतना का अवस्तुता या कुछ नहीं होना। कुछ या वस्तु होने ही चेतना उस कुछ या वस्तु में संचालित परिभाषित नियमित और बद्ध हो जाता है। इसलिए इस बंधन को हटाने के लिए चेतना का अवस्तु (Nothing) के रूप में धारणा तार्किक अनिवार्यता है। कुछ नहीं है परिणामतः स्वतन्त्र है अर्थात् मनुष्य चेतना की कोई प्रदत्त निश्चित प्रकृति परिभाषा या सारता नहीं है। व्यक्ति अपनी प्रकृति परिभाषा या

सम्भावना का निर्माण स्वयं-वस्तु के सम्पर्क में करता है जो अन्तिम नहीं होता। परिणाम और अनिश्चयात्मक होने में यह किसी भी स्थूल और सूक्ष्म बंधन से सीमित नहीं हो सकता। इसलिए वह अपनी नियति अर्थात् उद्देश्यों मूल्यों और इन सहित व्यवस्थाओं का भी निर्माण करता रहता है। इस क्रिया में उसके आगे परिणामपरक बन्धन या वस्तुगत सीमा नहीं है न देश का व्यवधान न काल का प्रतिरोध और न मूल्य-विचार की अनिवार्यता। व्यक्ति स्वयं इन का स्वीकार करता है यह उसका स्वतन्त्र चुनाव है। वह काल को उत्पन्न करता है।* उसकी चेतना में पूर्व प्रदत्त कोई मूल्य नहीं होते और न कोई प्रत्यय ही होते हैं। ये मूल्य और प्रत्यय उसकी चेतना से ही समय समय पर उद्भूत होते हैं फलतः मनुष्य की सामर्थ्य के कारण वह इतना स्वतन्त्र है कि इन मूल्यों की अस्थायी स्वीकृति ही है।

मनुष्य इस स्वतन्त्रता से बच नहीं सकता। सार्त्र की भाषा में वह स्वतन्त्र होने के लिए अभिशप्त है। इस संसार में उसे कुछ न कुछ करना ही पड़ता है चुनाव नहीं करने का निश्चय भी चुनाव ही है। अर्थात् यह स्वतन्त्रता का प्रयोग है। कायर व्यक्ति होते नहीं, वीरता और कायरता में कायरता को चुनते हैं। फलतः यह स्वतन्त्रता व्यक्ति के सम्पूर्ण कार्य व्यापार में क्रियाशील है सामान्य तत्त्व के रूप में नहीं व्यक्तिगत चेतन-क्रिया के रूप में। स्पष्ट है कि व्यक्ति इस स्वतन्त्रता के कारण वस्तु परिवेश अन्य और शरीर से अपने को विच्छिन्न पाता है अकेला बनता है। अर्थात् अजनबीपन सदा ही उत्पन्न हो जाता है। सार्त्र और कामू इस अजनबीपन को स्वाभाविक मान कर स्वीकार करते हैं। इसलिए व्यक्ति का पीछा करते संत्रास और क्षणिकता को स्वीकार करते हैं।

पर क्या व्यक्ति की स्वतन्त्रता इतनी आत्यन्तिक और परम है? क्या ऐसा नहीं लगता कि स्वतन्त्रता इस रूप में सजीव व्यक्ति की अनुभूति और क्रिया न होकर एक कोरी धारणा मात्र रह जाती है? सार्त्र कहता है कि न चुनना भी चुनना है अर्थात् स्वतन्त्रता है तो फिर न चुनना और चुनना क्या एक ही है? फिर परतन्त्रता और स्वतन्त्रता में भेद क्या है? क्या न चुनना परतन्त्रता नहीं है? व्यक्ति चुनता है स्वतन्त्रता के कारण और न चुनने को भी 'चुनना' है इसी स्वतन्त्रता के कारण। सार्त्र बुद्धि विरोध

---

* पिछले अध्याय में यह बात सविस्तर विवेचित हो चुकी है।

करते हुए भी बुद्धिगत प्रत्यय की स्थापना कर रहा है । सामान्य व्यक्ति नहीं चुनने का काय अथवा स्वतन्त्रता के कारण न । करता अन्य अनेक विशेषता सूचक धारणा से करता है । जिस सामान्य के प्रति सात्र विद्रोह करता है उसी सामान्य स्वतन्त्रता का वह स्थापना करता सा लगता है । यह निरावृत स्वतन्त्रता एक भ्रमात्मक विचार मात्र प्रतीत होता है । इसमें तार्किक असंगति भी प्रतीत होती है । थोड़ा सूक्ष्म विचार करें । सात्र चेतनाओं की अनन्तता मानता है क्योंकि व्यक्ति अनन्त हैं । इसलिए इन चेतनाओं का सर्जन काय निर्मिति या विश्व भी अनेक है भिन्न हैं फलत द्वन्द्वात्मक है पर ऐसा क्यों है ? सात्र की चेतनाएं मूलत अहरन्ति हैं इसका मतलब होना चाहिए कि अनेकश स्थित होते हुए भी इनमें मूलभूत समानता है । क्योंकि असमानता तो जैसा वह स्वयं स्वीकार करता है अन्यत्र म उत्पन्न होती है । यदि वंश परम्परा संस्कार वृत्ति परिवेश आदि किसी का भी बन्धन उस चेतना म नहीं है तो फिर इन चेतनाओं म द्वन्द्वात्मक विभेद क्यों उपजता है ? यह क्या यह अनेक विभेदात्मक विकास क्यों होता है । स्वतन्त्रता और स्वतन्त्रता का संघर्ष क्यों होता है ? इस चेतना म न चुनने और चुनने की भिन्नता क्यों है ? सात्र के दर्शन म इसका कोई स्पष्ट समर्थित उत्तर व्यावहारिक स्तर पर नहीं प्राप्त होता । यह भी हीगल के समान परम (Ab olute) सामान्य स्थापित करने की चेष्टा मात्र लगता है जिसका व्यक्तिगत सजीव मानव के कार्यकलाप से बहुत क्षीण सम्बन्ध है ।

इसलिए जीवन म ऐसी सर्वतन्त्र स्वच्छन्दता नहीं प्राप्त होती । सात्र स्वीकारता है कि स्वतन्त्रता कार्य म अभिव्यक्त होती है अर्थात् चुनाव करने के कार्य म ही स्वतन्त्रता है । कार्य बाहर (भौतिक और सामाजिक परिवेश) म घटित होता है अन्दर म घटित होने वाला कार्य दिवास्वप्न मात्र है । यदि यह कार्य बाहर घटित होता है तो बाहर म प्रभावित भी होता है स्वतन्त्रता स्वयं अब तक बाहर म सीमित है । जब बाहर का अतिक्रमण करे तो भी बाहर की अपनी सीमा का उसके द्वारा अतिक्रमण करेगी । आस्तित्व

* सात्र के मत म और अन्य के मत म वह स्वतन्त्रताओं का जो संघर्ष है । इसका प्रतिकार सात्र स्वतन्त्रता की अनिवार्य सीमा अन्य स्वतन्त्रता को ही मानता है ।

समाज के सदस्य होने के समान ... नी ... रहने की स्वतन्त्रता प्रयोग के लिए काम की भूमि और नाना आक्रमण का परिमाण आवश्यक है। भारत का बुद्धिजीवी ... नहीं कर सकता। दूसरी ओर व्यक्ति की चेतना का कार्य उद्देश्यपरक भी होता है चाहे वह उद्देश्यों के परिवर्तन में समर्थ हो पर उद्देश्य तो रहता ही है। ... अस्तित्ववादी भी स्वीकार करते हैं। यह उद्देश्य का अनुशासन चेतना में रहना अनिवार्य है उद्देश्य बदल सकते हैं पर अनुशासन नष्ट नहीं होता। चेतना अनिवार्यता (Necessity) नहीं है पर वह परम स्वतन्त्रता भी नहीं है। वस्तुतः ... के रोमांसवाद में ... तथ्य ... था जिस पर अधिक ध्यान नहीं दिया गया। ... मनुष्य की स्वतन्त्रता के साथ ... बन्धन भी देखता है। यद्यपि ... का यह बन्धन सामाजिक और राजनीतिक अधिक था फिर भी उससे यह अर्थ निकाला जा सकता है कि मनुष्य की चेतना ... के ... में स्थित होने के कारण उससे बद्ध है किन्तु इस बद्धता से मोक्ष प्राप्त कर ... अनुकूल बद्धता निर्मित करने की समर्थता उसमें है। निरन्तर ... निर्माण की शक्ति ही उसकी स्वतन्त्रता है।

... व्यक्ति-चेतना के स्वातन्त्र्य पर अनुशासन होने के कारण अस्तित्ववाद में समाजपरक नीति (Ethical) पर और राजनीति की उपेक्षा ... है। ... निश्चित व्यवस्था ... है। ... अनुसार व्यक्ति की स्वतन्त्र चेतना ... नैतिक मूल्य ... और व्यक्तिनिष्ठ ... है। फलतः समाजगत नैतिक व्यवहार के लिए सिद्धान्त ... अनुपयोगी है। ... की ... सीमोन द ब्वावार * (Simone de Beauvoir) ने ... अस्पष्टता, अनिश्चितता और व्यक्तिनिष्ठता की नीति व्यवस्था की स्थापना की है ... नीति ... व्यक्ति का मनमाना ... मूल्य-निर्धारण मात्र सिद्ध होती है। इसी प्रकार अस्तित्ववादी तर्क (existentialist logic) का भी विकास ... हुआ है। ... विषय परक ज्ञान और ... अनुभूति ... और व्यक्तिनिष्ठता ... व्यवस्था की ... ही। ... मात्र है। राजनीति के सम्बन्ध में ... निश्चित ... सिद्धान्त का ... है। ... का

* Ethics of Ambiguity —Simone de Beauvoir

सार्थकता का निर्माण स्वयं - वस्तु के सम्पर्क में करता है जो अंतिम नहीं होता । गतिशील और अतिक्रमणयुक्त होने से वह किसी भी स्थूल और सूक्ष्म बंधन से सीमित नहीं हो सकता । इसलिए वह अपनी निर्मिति अर्थात् उद्देश्यों मूल्यों और स्व सर्जित व्यवस्थाओं का भी अतिक्रमण करता रहता है । इस क्रिया में उसका कोई गतिरोधक बंधन या वस्तुगत सीमा नहीं है न देश का अवधान न काल का प्रतिरोध और न मूल्य-विचार की अनिवार्यता । व्यक्ति स्वयं इन का स्वीकार करता है यह उसका स्वतंत्र चुनाव है । वह काल को उत्पन्न करता है । उसकी चेतना में पूर्व प्रदत्त कोई मूल्य नहीं होते और न कोई प्रत्यय ही होते हैं । ये मूल्य और प्रत्यय उसकी चेतना से ही समय समय पर उद्भूत होते हैं फलत मनुष्य की सामर्थ्य के कारण वह इनसे स्वतंत्र है* इन मूल्यों की अस्थायी स्वपरक स्थिति ही है ।

मनुष्य इस स्वतंत्रता से बच नहीं सकता । सार्त्र की भाषा में वह स्वतंत्र होने के लिए अभिशप्त है । उसे संसार में चुनाव करना ही पड़ता है चुनाव नहीं करने का निश्चय भी चुनाव ही है । अर्थात् स्व स्वतंत्रता का प्रयोग है । कायर व्यक्ति हार नहीं मानता और कायरता में कायरता को चुनते हैं । फलत यह स्वतंत्रता व्यक्ति के सम्पूर्ण कार्य व्यवहार में क्रियाशील है सामान्य तत्त्व के रूप में नहीं वैयक्तिक चयन-क्रिया के रूप में । स्पष्ट है कि व्यक्ति इस स्वतंत्रता के कारण वस्तु परिवेश अन्य और शरीर से कटता है विच्छिन्न होता है अकेला बनता है* । अर्थात् अलगाव सहज ही उत्पन्न हो जाता है । सार्त्र और कामू इस अलगाव को स्वाभाविक मान कर स्वीकार करते हैं । इसलिए व्यक्ति की पीड़ा आतंक संत्रास और क्षणिकता को स्वीकार करते हैं ।

पर क्या व्यक्ति की स्वतंत्रता इतनी आत्यन्तिक और परम है ? क्या ऐसा नहीं लगता कि स्वतंत्रता इस रूप में समाज व्यक्ति की अनुभूति और क्रिया न होकर एक वायवी धारणा मात्र रह जाती है ? सार्त्र कहता है कि न चुनना भी चुनना है अर्थात् स्वतंत्रता है तो फिर न चुनना और चुनना क्या एक ही है ? फिर परतंत्रता और स्वतंत्रता में भेद क्या है ? क्या न चुनना परतंत्रता नहीं है ? व्यक्ति चुनता है स्वतंत्रता के कारण और न चुनने को भी चुनता है इसी स्वतंत्रता के कारण । सार्त्र बुद्धि विरोध

* सार्त्र विषयक अध्याय में यह बात सविस्तार विवेचित हो चुका है ।

करते हुए भी बुद्धिगत प्रत्यय की स्थापना कर र । है । सामान्य यक्ति नहीं चुनने का काय अपनी स्वतन्त्रता के कारण नहीं करता अन्य अनेक विवशता सूचक कारणों से करता है । जिस सामान्य के प्रति मात्र विद्रोह करता है उसी सामा य स्वतन्त्रता की वह स्थापना करता सा लगता है । यह निरावन स्वतन्त्रता एक भ्रमात्मक विचार मात्र प्रतीत होता है । इसमें तार्किक असंगति भी प्रतीत होती है । थोड़ा सू म विचार करें । सात्र चेतनाओं की अनेकता मानता है क्योंकि यक्ति अनेक हैं । इसलिये इन चेतनाओं का सजन काय निर्मिति या विश्व भी अनेक है भिन्न है फलत द्वन्द्वात्मक है पर ऐसा क्यों है ? सात्र की चेतनाएं मूलत अहंरहित हैं इसका मतलब होना चाहिए कि अनेकश स्थित होते हुए भी इनमें मूलभूत समानता है । क्योंकि असमानता तो जसा वह स्वय स्वीकार करता है अहम् म उत्पन्न होती है । यदि वश परम्परा संस्कार वत्ति परिवेश आदि किसी का भी बन्धन उस चेतना म न ी है तो फिर इन चेतनाओं म द्वन्द्वात्मक विभेद क्यों उपजता है अहं का यह अनेक विध भेद मक विकास क्यों होता है । स्वतन्त्रता और स्वतन्त्रता का संघर्ष क्यों होता है ? इस चेतना म न चुनने और चुनने की भिन्नता क्यों है ? सात्र के दर्शन म सका कोई स्पष्ट समुचित उत्तर व्यावहारिक स्तर पर नहीं प्राप्त होता । यह भी हीगल के समान परम (Ab olute) सामान्य स्थापित करने की चेष्टा मात्र लगता है जिसका वास्तविक सजीव मानव के क्रियाकलाप म बड़ा क्षीण सम्बन्ध है ।

दैनिक जीवन म ऐसी सर्वतन्त्रस्वतन्त्र चेतना नहीं प्राप्त होती । सात्र स्वीकारता है कि स्वतन्त्रता काय म अभि यक्त होती है अर्थात् चुनाव करने के काय म ही स्वतन्त्रता है । काय बाहर (भौतिक और सामाजिक परिवेश) म घटित होता है अन्तर म घटित होने वाला काय दिवास्वप्न मात्र है । यदि यह काय बाहर घटित होता है तो बाहर म प्रतिबिम्बित भी होता है स्वतन्त्रता इस प्रकार बाहर म सीमित है । वह बाहर का अतिक्रमण करे तो भी बाहर की अपनी सीमा का दूसरे तल का अतिक्रमण करेगी । आन्तरिक

---

* सात्र ने मैं और अन्य के सम्बन्धों म यह स्वतन्त्रताओं का ही संघर्ष है । इसके अतिरिक्त सात्र स्वतन्त्रता की परिहार्य सीमा अन्य स्वतन्त्रता को ही मानता है ।

सकने के समय गाय के समान ना बहने की स्वतन्त्रता प्रयाग के लिए काम की भूमि और नाजी आक्रमण की परिमाणा आवश्यक है भारत का बुद्धिजीवी ऐसा नहीं कर सकता । दूसरी ओर व्यक्ति की चेतना का कार्य उद्देश्यपरक भी माना है चाहे वह उसकी व्याख्या के परिवर्तन में समर्थ हो पर उद्देश्य तो रहता ही है । इस अस्तित्ववादी भी स्वीकार करते हैं । यह उद्देश्य का अनुशासन चेतना में रहता अनिवार्य है उद्देश्य बदल सकते हैं पर अनुशासन नष्ट नहीं होता । चेतना अनिवार्यता (Necessity) नहीं है पर वह परम स्वतन्त्रता भी न है । वस्तुतः इसी के रोमांसवाद में एक तथ्य ऐसा था जिस पर अधिक ध्यान नहीं दिया गया । इसी मनुष्य की स्वतन्त्रता के साथ सदा ग्रन्थित भी देखता है । यद्यपि इसी का यह बंधन सामाजिक और राजनीतिक अधिक था फिर भी उससे यह अर्थ निकाला जा सकता है कि मनुष्य की चेतना इतिहास के वृत्त में स्थित होने के कारण उससे बद्ध है किन्तु इस बद्धता से मुक्ति प्राप्त कर नई अनुकूल बद्धता निर्मित करने की सम्भावना उसमें है । निरन्तर नव बद्धता निर्माण की शक्ति ही उसकी स्वतन्त्रता है ।

इसी व्यक्ति-चेतना के स्वातन्त्र्य पर अनुशासन के अभाव के कारण अस्तित्ववाद में समाजपरक नीति (Ethical) तत्त्व और राजनीति की उपेक्षा दिखाई देती है । नैतिकता की कोई निश्चित व्यवस्था इसमें नहीं है । इसके अनुसार व्यक्ति की स्वतन्त्र चेतना में सभी नैतिक मूल्य स्थान पाते हैं जो अस्थिर और व्यक्तिनिष्ठ हो जाते हैं । फलतः समाजगत नैतिक व्यवहार के लिए सिद्धान्त ही अनुपयोगी हैं । सार्त्र की सहयोगिनी सीमोन द बोवार * (Simone de Beauvoir) ने स्थापित अस्पष्टता अनिश्चितता और व्यक्तिनिष्ठता की नीति व्यवस्था की स्थापना की है जो नीति न हो व्यक्ति का मनमाना अस्थिर मूल्य-प्रणयन मात्र सिद्ध होता है । इसी प्रकार अस्तित्ववादी तर्क (existen tialist logic) का भी विकास न हो सका है । इन्द्रिय विषय परक ज्ञान और सम्वेदनानुभूति की कुण्ठिता और व्यक्तिनिष्ठता बिना तर्क व्यवस्था को पनपने न देती । इन्द्रिय-विषय परक तर्क नहीं बनाता मात्र है । राजनीति के सम्बन्ध में भी किसी निश्चित सिद्धान्त का अनुसरण नहीं किया जाता है । मैं का

---

* Ethics of Ambiguity —Simone de Beauvoir

समूह से सम्बन्ध सामाजिक स्तर पर इन तीनों के अभाव में स्थापित हो ही नहीं सकता।

यह स्वतन्त्रता व्यक्ति को सब के लिए उत्तरदायी बनाती है। इसीलिए उसके अभाव भी उसी के हैं, समाज या बाहरी व्यवस्था से उद्भूत नहीं। फलत समाज या बाहरी व्यवस्था के सुधार से न तो आशावादी प्रेरणा ही उसमें आ सकती है और न इस सुधार से किसी सामञ्जस्यपूर्ण मानसिक शान्ति की प्राप्ति होगी। स्वतन्त्र व्यक्ति भी अन्तर्गत पीडा, आतंक से उतना ही ग्रस्त रहेगा जितना परतन्त्र। फिर व्यक्ति स्वतन्त्र बनने के लिए प्रयत्न ही क्या करे? मात्र स्वतन्त्रता को उद्देश्य न मानकर सत्वविधायक तत्त्व मानता है। इसलिए इसमें भावी सामञ्जस्य की शिवतर स्थिति अनुपस्थित है। यह एक प्रवाह है, क्रिया है जो स्वयमेव ही गतिशील रहती है इसलिए यह रोग का उपचार न होकर रोग की प्रक्रिया ही सिद्ध होता है।

निष्कर्षत अस्तित्ववाद आधुनिक पश्चिमी व्यक्ति के रुग्ण मन का प्रतिबिम्ब है, उसका यथातथ्य वर्णन है किन्तु समुचित समाधान नहीं है। इसमें जीवन-स्थिति का चित्रण है पर स्वस्थ जीवनदृष्टि का पूर्णतया अभाव ही दिखाई देता है। फलत यह अच्छा मनोविज्ञान है पर बुरा जीवन-दर्शन या भूतातीतविद्या (Metaphysics) सिद्ध होता है।